उपेन्द्रनाथ अश्क
खोने और पाने के बीच

खोने और पाने के बीच

संगीत नाटक अकादमी
एवं सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कारो से विभूषित
आकाशवाणी और दूरदर्शन के भू० पू० मानद प्रोडयूसर
अर्ध शताब्दी से भी ऊपर समय से सृजनरत
बहुमुखी प्रतिभा के समर्पित रचनाकार के
संस्मरणों, निबन्धों और आत्म-स्वीकारों का
नवीनतम संग्रह

खोने और पाने के बीच

उपेन्द्र नाथ अश्क

•

नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद-१

प्रकाशकीय

•

जैसा कि बहुमुखी-प्रतिभा-सम्पन्न रचनाकारो के साथ होता है, अश्क की मूल प्रवृत्ति के संदर्भ मे भी पाठको और आलोचको मे मतभेद है कि उनकी मूल प्रवृत्ति उपन्यासकार, की है या नाटककार, कवि, आलोचक अथवा सस्मरणकार की ?

वास्तव मे अश्क की मूल प्रवृत्ति एक ऐसे साहित्यकार की है जो जिन्दगी को उसकी सम्पूर्णता मे चित्रित करने का सामर्थ्य और शक्ति रखता हो, जिसके लिए जीवन और साहित्य मे, कथनी और करनी मे भेद न हो और यह सामर्थ्य जिन्दगी को भरपूर जीने से ही आता है।

यही वजह है कि अश्क की रचनाएँ प्रचलित मानदण्डो से ऊपर उठ कर एक निजी पहचान और जीवन्त रचनात्मकता का घेरा निर्मित करती है, जो हर सच्चे रचनाकार का उद्देश्य होता है। इसीलिए अश्क ने कभी विधा की चिन्ता नहीं—अपनी अनुभूति और अपने अनुभव को, उन्होंने उसी विधा मे अभिव्यक्त किया, जिसमें वह उनके मनोनुकूल अभिव्यक्ति पा सके।

अपने रचनात्मक समय का अधिकाश अश्क अपने बृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' का अन्तिम खण्ड पूरा करने तथा अपनी चरित-माला 'चेहरे : अनेक' के आगामी खण्ड लिखने में लगाते है। लेकिन वे पचपन वर्षों से साहित्य-सर्जना करते आ रहे हैं और दूर-पार के पाठक, शोध छात्र, साथी लेखक विभिन्न मुद्दों पर उनका मत जानने आते हैं। आकाशवाणी के प्रोड्यूसर उनके अपने लेखन के किसी-न-किसी अंग पर प्रकाश डालने का अनुरोध करते हैं। पत्र-पत्रिकाएँ अपने समकालीनों के बारे में संस्मरण लिखने का अनुरोध करती हैं। प्रकट ही इस प्रक्रिया में लेख, निबन्ध, समालाप, संस्मरण तथा आत्म-स्वीकार उनके कलम

की नोक पर आ जाते हैं। **खोने और पाने के बीच** इसी तरह की रचनाओ का पाचवा सग्रह है। इससे पहले इसी प्रक्रिया मे 'ज़्यादा अपनी : कम परायी,' 'परतो के आरपार,' 'छोटी-सी पहचान' और 'आस्मा और भी हैं' प्रकाशित और प्रशसित हो चुके है।

खोने और पाने के बीच—ऐसे संस्मरणो, निबन्धो और आत्म-स्वीकारो का संग्रह है, जिसमे अश्क जहाँ अपने साथियो के बारे मे अपना मत व्यक्ति करते है, वहाँ उन आदर्शों और प्रेरणाओ की ओर भी सकेत करते है जो उन्हे यूँ तिरन्तर रचनारत रहने को विवश करती है।

अश्क चाहे किसी साथी के बारे मे लिखे अथवा किसी स्थिति के बारे मे, वे स्वयं भी उसमे पूरी तरह मौजूद रहते हैं और कथाकार के-से प्रवाह के साथ आपको बाँध लेते हैं। साथ ही जीवन के एक सच्चे आलोचक की तटस्थता के साथ स्थितियो पर गहर-गम्भीर कमेण्ट भी देते जाते हैं, जो मौज़ेक के छोटे-छोटे चिप्स की तरह अश्क के निजी दर्शन की व्याख्या भी करते हैं—उस दर्शन की, जो जिन्दगी से उपज कर भी उसके साथ रहा है। खाली आस्मान मे खो नही गया।

आशा है पाठको को यह सग्रह रुचेगा। शीघ्र ही इसी सीरीज़ मे हम उनको अगला संग्रह **'उस्ताद की जगह खाली है'** पाठकों के सामने रखेंगे।

●

अनुक्रम

●

खण्ड-एक

खण्ड-दो

खण्ड-तीन

●

गुलज़ार
बेचेहरा लोगों में एक चेहरा

●

यह अजीब बात है कि गुलज़ार कई सफल फिल्में बना चुके थे, जब मैंने पहली बार उनकी एक चर्चित फ़िल्म देखी और वे भी मेरे चन्द प्रिय फ़िल्म निर्देशकों मे से एक हो गये।

वास्तव में कॉलेज के दो-तीन वर्षों को छोड़ दूँ तो मैं कभी भी ज्यादा फिल्मे नही देख पाया। कॉलेज के ज़माने मे नगर के एकमात्र सिनेमा-हाल के मालिक मेरे मित्र थे, सिनेमा का शौक भी बढ़ा-चढ़ा था; बम्बई जाने और फ़िल्मी दुनिया में एक्टर या डायरेक्टर के नाते नाम पाने की तमन्ना भी थी और मैं हर रोज फिल्म देखता था। उन दो-तीन वर्षों मे मैंने इतनी फ़िल्मे देखीं कि तबियत हमेशा-हमेशा के लिए सैर हो गयी; आँखों पर चश्मा चढ़ गया और सिर में दर्द रहने लगा। फिर मैं लाहौर चला गया। उर्दू दैनिक पत्रो मे काम करता रहा। मैंने कानून पास किया। उस वक्त जब मैं सबजजी के कम्पीटीशन मे बैठने की तैयारी कर रहा था, लम्बी बीमारी के बाद मेरी पत्नी का देहान्त हो गया। जिन्दगी की धारा बदल गयी और मैं 'होल टाइम राइटर' (सारा समय लेखन को देने वाला रचनाकार) बन गया। मुझे लगा, यही मेरी नियति है और अपनी उस नियति के आगे मैं नतशिर हो गया। तब फ़िल्मी दुनिया कहीं बहुत दूर चली गयी।

मैं फ़िल्मे देखना चाहता ही न होऊँ, यह बात नही। अच्छी, सुरुचिपूर्ण फिल्मे देखने को हमेशा मेरा मन होता है, लेकिन अव्वल तो अच्छी फ़िल्मे बहुत कम आती हैं, फिर कभी जब कोई अच्छी फ़िल्म

शहर मे लगी होती है, मै कोई उपन्यास या नाटक लिखने मे तल्लीन होता हूँ। उसे बीच मे छोड कर उठना रिस्की लगता है और फिल्म देखने का लोभ सम्वरण कर जाता हूँ।

पहले ऐसे मे मेरी पत्नी कभी मुझे सुबह के अथवा दोपहर के मैटनी शो मे बरबस ले जाती थी, लेकिन जैसे-जैसे उम्र बढती गयी, उस समय जाना आँखो अथवा सिर के दर्द को बुलाने के बराबर हो गया। राजयक्ष्मा के बाद नौ बजे रात का शो मेरे लिए वर्जित कर दिया गया। सिर्फ शाम को छै से नौ का शो मैं देख सकता था और चूँकि वह समय मेरे लिखने का होता है (मैं शाम पाँच बजे मे रात बारह बजे तक मेज़ पर बैठता हूँ) इसलिए अच्छी फिल्मे आती है और चली जाती है और मैं देख नही पाता।

वर्षों से ऐसा होता आ रहा है। कभी-कभी जब कोई फिल्म बहुत चर्चित होती है (चर्चित होने का मतलब उसका हिट होना नही, वरन् सुरुचि-सम्पन्न होने के नाते नाम पाना है) मेरी पत्नी अथवा नीलाभ—मेरा छोटा लडका—उसकी प्रशंसा करते है और मुझ पर जोर देते हैं तो मैं देख आता हूँ। प्राय ऐसा भी होता है कि फिल्म दो-एक बार आ कर चली जाती है और जब मैं देखता हूँ तो वह पुरानी पड़ चुकी होती है।

मेरी इस अन्यमनस्कता का एक कारण यह भी है कि देवकी बोस, नीतिन बोस, पी०सी०बरुआ, व्ही०शान्ताराम आदि पुराने ज़माने के जिन फिल्म-निर्देशको की फिल्मे मुझे पसन्द थी, वे कब के विस्मृति के गर्त मे बिला गये और एस० मुकर्जी ने हिट फिल्मो का जो फार्मूला चलाया, उसके अन्तर्गत बनी फिल्मे तमाम सिलवर जुबलियों के बावजूद, मुझे कभी पसन्द नहीं आयी। उन्हें देखना मुझे हमेशा अपने समय का अपव्यय और उनका निर्माण देश, उसकी जनता, उसके युवक-युवतियों तथा किशोरो के खिलाफ भारी षडयन्त्र और अपराध लगा। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद देश के जवानो और किशोरों में हिंसा, अपराध, मद्यपता, नशीले पदार्थों का सेवन, चोरी, डाकाजनी, महिलाओं से दुर्व्यवहार,

बलात्कार तथा अन्य बुराइयाँ बढी है तो उसमे मुकर्जी और उन्ही जैसे फार्मूला-फिल्म-निर्माताओ का कम हाथ नही है। क्योकि फिल्म का माध्यम देश की जनता को सुधारने या बिगाडने का सबल, बडा और सशक्त माध्यम है, इसे मै देश का दुर्भाग्य ही कहूँगा कि वह माध्यम जनता की सद्प्रवृत्तियो को बढावा देने के बदले कुप्रवृत्तियो को उभारने के लिए उत्तरोत्तर इस्तेमाल होता आ रहा है—जनता को उसके परिवेश की यथार्थता दिखा कर व्यक्ति और समाज को बदलने की प्रेरणा देने के बदले, उन्हे झूठी ज़िन्दगी और झूठे सपने दिखाकर यथा-स्थिति को बनाये रखने मे योग देता आ रहा है।

इस बीच अच्छे निर्देशक एकदम नापैद हो गये हो, ऐसी बात भी नही, लेकिन जब-जब उन्होने फिल्मो की प्रचलित रविश बदलने की कोशिश की और कोई सुरुचिपूर्ण फ़िल्म चर्चित अथवा सफल हुई—वह चाहे 'पथेर पंचाली' हो या 'दो बीघा जमीन;' 'जागते रहो' हो या 'स्वयंसिद्धा,' 'अनहोनी,' 'राग-रंग,' 'शहीद,' 'साहब बीबी गुलाम,' 'सुजाता,' 'कोशिश' या 'अंकुर' हो—और लगा कि अच्छी फिल्मों का ट्रेण्ड चलेगा, यारों ने पापुलर फिल्मों का नया फार्मूला ढूँढ़ निकाला—कभी शिमला और टोकियो में प्यार वाला, कभी प्रसिद्ध डाकुओं के कारनामो और अन्त मे उनके सुधार वाला, कभी लैला-मजनूँ की अजली मुहब्बत वाला, कभी मल्टी-स्टार फ़िल्मो वाला और कुछ 'नया' कर गुजरने की साध रखने वाले निर्देशको के सद्प्रयास धरे-के-धरे रह गये। पूँजीवादी व्यवस्था में, जहाँ नीति-अनीति की, व्यक्ति या समाज के हित-अहित की चिन्ता किये बिना अधिकाधिक मुनाफ़ा कमाना एकमात्र ध्येय हो, ऐसा सदा होता रहा है और जब तक यह व्यवस्था और इसकी पोषक राजसत्ता मिट नही जाती, आगे भी ऐसा ही होगा।—सरकार की तमाम बुलन्द-बाँग घोषणाओ और सेंसर के तमाम नेक इरादो के बावजूद !

ऐसी निराशाजनक स्थिति में चन्देक ऐसे फ़िल्म निर्देशक हमारी स्तुति, प्रशंसा, श्रद्धा और बधाई के पात्र हैं, जो इस भेड़ियाधसान में नयी राह निकालने के प्रयास कर रहे है; जो महज कला के लिए ही

नही, किसी गहरे और महत उद्देश्य से फिल्मे बनाते हैं। निश्चय ही नये फिल्म-निर्माताओं मे गुलज़ार एक महत्वपूर्ण नाम है और यह नाम ऐसे फिल्म निर्देशको की पहली पंक्ति मे आता है।

०

खामोश फिल्मो और आरम्भिक टॉकीज़ के ज़माने मे औत्सुक्य-प्रधान, फार्मूलाबद्ध या सनसनी भरी स्टण्ट अथवा चमत्कारपूर्ण धार्मिक फिल्मो का दौर-दौरा था, जिन्हे रोज़-रोज देख कर मेरा मन अघा गया था। उस दौर की बात न करके यदि मैं उस ज़माने की बात करूँ जब एक ओर 'न्यू थियेटर्ज़' कलकत्ता और दूसरी ओर 'प्रभात फिल्म कम्पनी' पूना ने उन निरुद्देश्य, फूहड़, कलाविहीन फ़िल्मो का दुश्चक्र तोड़ कर फिल्म दर्शको को ऐसी फिल्मे दी, जिनकी स्मृति-मात्र सुख देती और मन मे नास्टेल्जिया का भाव उपजाती है तो मैं उन पुराने प्रतिभा-शाली महान् फिल्म निर्देशको का उल्लेख करूंगा, जिन्होने फिल्मी दुनिया मे कुछ वर्षों के लिए स्वर्ण-युग का आविर्भाव किया था। उस ज़माने मे न फिल्मी टेकनिक इतनी विकसित हुई थी, न प्ले-बैक गानो का प्रचलन हुआ था, न अन्य आधुनिक सुविधाएँ उपलब्ध थी, तो भी देवकी बोस, बरुआ, नीतिन बाबू और शान्ताराम ने एक-से-बढकर-एक कलापूर्ण, सुन्दर और सोद्देश्य फिल्मे बनायी।

यह धारा द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ तक रही। फिर एक ओर निचले तबके के पास वाफर पैसा आ जाने से फ़िल्मी दर्शको में परिवर्तन आया, दूसरी ओर शशिधर मुकर्जी और उनकी देखा-देखी कारदार आदि फ़िल्म निर्देशकों ने निचले अपढ़ वर्ग की कुण्ठाओं और निम्न भावनाओ की तुष्टि के लिए फ़ार्मूला फ़िल्मों का पुन: सूत्रपात किया और 'झूला,' 'किस्मत,' 'शारदा,' 'नमस्ते' आदि हिट फ़िल्मों ने सुरुचिपूर्ण फिल्मी धारा को निम्नस्तरीय, फूहड़, सब-रस-फ़िल्मी-धारा की ओर मोड दिया। यही वह ज़माना है, जब हमारी फिलमो में निकम्मे, बेकार, आवारा नौजवानों पर पढी-लिखी सम्भ्रान्त युवतियाँ मरने लगी और फिल्मी दर्शक उन नायकों से तादात्म्य स्थापित कर सुख पाने लगे।

तब से लेकर आज तक उस बुनियादी फ़ार्मूले में थोड़ा इधर-उधर कर चोरों, गिरहकटों, डाकुओं, स्मगलरों, शराबियों और संदिग्ध तरीकों से जीवन निर्वाह करनेवालों के तथाकथित मानवीय पक्ष को दिखाने के बहाने फिल्में बनायी जाती रही हैं, सफल होती रही है और हमारे किशोरों और युवकों मे अपराध-वृत्ति बढ़ी है और चूंकि आज की फ़िल्मो मे क्रूरता और लड़ाई-झगड़ा (जिसमें नायक दस-दस बदमाशों से अकेला जूझना और सफल होता है) फिल्म का जरूरी जुज़्व हो गया है, इसलिए किशोर और युवक तो दूर रहे, छोटे-छोटे बच्चे गली-मुहल्लों मे 'ढीशूं,' 'ढीशूं,' करते अपने साथियो पर मुक्के बरसाते दिखायी देते है। फिल्मों से प्रेरणा लेकर, जैसा कि मैंने कहा, हमारे पढ़े-लिखे युवक शराब पीने, नशा करने और युवतियों से छेड़खानी करने, यहाँ तक कि डाके डालने लगे हैं। बात सख्त है, लेकिन इंसान की निम्न वृत्तियों को तुष्ट कर करोड़ों बनाने वालों को मैं नाजायज शराब बेचने वाले बूटलेगरों अथवा नाजायज माल का धंधा करने वाले स्मगलरों अथवा वेश्यालय चला कर धन उपार्जन करने वाले हृदयहीन लोगों से किसी तरह बेहतर नहीं समझता।

इसी धारा के साथ, कभी तेज और कभी मन्द सुरुचिपूर्ण फ़िल्मों की धारा भी चलती आ रही है। बहुत सफल नही हुई, लेकिन इधर नये निर्देशकों ने ऑफ़-बीट, प्रयोग-धर्मा फ़िल्मे बना कर उस धारा को सूखने नही दिया। चाहे क्रूरता और परयन्त्रणा-प्रियता से भरी मल्टी-स्टार फ़िल्मों ने बॉक्स आफ़िस पर उन्हे पीट दिया हो, पर देश के प्रबुद्ध दर्शकों के मन पर उन फ़िल्मों ने काफ़ी प्रभाव डाला है। फ़ार्मूला फ़िल्मो के बेचेहरा निर्देशकों के मुकाबिले में इन फ़िल्मों ने अपने निर्माताओं को एक सुनिश्चित ईयत्ता दी है, आइडेण्टिटी और पहचान दी है।

गुलज़ार उंगलियों में गिने जाने वाले इन्ही चन्देक फ़िल्म निर्देशकों में से हैं।

०

यूं तो फ़ार्मूला फ़िल्मों के लगभग पन्द्रह नुस्खे हैं, जिन पर संसार

की तमाम हिट फिल्मे पूरी उतरती हैं, लेकिन सुविधा के लिए मैं इन्हे प्रमुख चार खानो मे बाँटना चाहूँगा। पहले फार्मूले का मैं ऊपर उल्लेख कर चुका हूँ, दूसरा वही अज़ली प्यार का हज़ारो बार का आज़माया हुआ फार्मूला है—जिसके अधीन लैला-मजनूँ, शीरी-फरहाद, हीर-राँझा, सोहनी-महीवाल जैसी लोककथाओ पर आधारित फिल्मे बार-बार बनी हैं। इसी फार्मूले को सामाजिक परिवेश देकर प्रोड्यूसर 'जुगनूं,' 'मुरली की धुन' और 'देवदास' जैसी फिल्मे बनाते हैं।

तीसरा फार्मूला चमत्कारिक धार्मिक फ़िल्मो का है, जिनमे ताजा हिट फिल्म 'जय सन्तोषी माँ' है।

चौथा फार्मूला गुडी-गुडी आदर्शवादी फ़िल्मो का है—जिन्हे परिवार के साथ जाकर देखा जा सकता है। उनमे न यथार्थ होता है, न मनोविज्ञान, होता है जड परम्पराओ का पोषण ! यथास्थिति को ठेस नही लगती; धार्मिक विश्वासो को चोट पहुँचती है न सामाजिक परम्पराओ को और लोग मजे से निर्द्वन्द्व होकर ये फ़िल्मे देखते हैं। मूल्यो के भयकर विघटन मे अज़ली प्यार वाली फ़िल्मो की तरह ये भी अच्छी लगती है। यह दीगर बात है कि उनका कोई इम्पैक्ट नही पडता और ये फिल्मे अफीम के नशे-का-सा काम देती हैं।

फार्मूला फिल्मो ही की तरह सुरुचिपूर्ण फिल्मो के भी दो-तीन प्रकार है। 'न्यू थिएटर्ज़' के ज़माने मे देवकी बोस और बरुआ कलापूर्ण फिल्मे बनाते थे। 'मुक्ति' हो, 'मंज़िल' हो, 'जवाब' हो, 'पूर्ण भगत' या 'विद्यापति'—उनमें कला का अंश प्रमुख था। उद्देश्य कही था तो प्रच्छन्न अथवा प्रतीक-भरा। इनके बरअक्स नीतिन बोस और शान्ताराम सीधी सोद्देश्य कलापूर्ण फ़िल्में बनाते थे। 'धरती माता,' 'धूप छाँव,' 'आदमी,' 'दुनिया न माने,' 'पड़ोसी,' 'डॉ० कोटनिस की अमर कहानी,' 'तीन बत्ती चार रास्ते,' 'दो आँखें बारह हाथ'—ऐसी ही फ़िल्मे थी। हालाँकि फार्मूला फिल्मो के चक्कर में शान्ताराम ने भी एक-दो वैसी फ़िल्मे बनायीं, पर उनकी प्रमुख देन सोद्देश्य कलापूर्ण फिल्मो की है और जैसा कि मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ उनकी प्रसिद्ध

फ़िल्म 'आदमी' ने भयंकर निराशा के दौर मे मुझे रास्ता दिखाया और मेरे जीवन की धारा बदल दी !

सुरुचिपूर्ण पुरानी फ़िल्मो की यही धाराएँ आधुनिक ऑफ़-बीट फ़िल्मो मे भी देखी जा सकती हैं। सत्यजित राय, ऋत्वक घटक, गुलज़ार, श्याम बेनेगल और मृणालसेन ने ऐसी ही फिल्मे बनायी हैं।

गुलज़ार अपने इन समकालीनो मे कैसे अपनी अलग पहचान बनाते हैं, इसे जानने के लिए हमे गत एक डेढ दशक की ऑफ-बीट, प्रयोग-धर्मा और नयी फिल्मो पर एक नज़र डालनी होगी। मैंने ज़्यादा फ़िल्मे नही देखी, तो भी सभी निर्देशको की प्रमुख फिल्मे देखी है और मैं इस सदर्भ मे अपनी बात कह सकता हूँ।

o

जैसा कि मैंने शुरू मे कहा, गुलजार की कोई फिल्म देखने से पहले मैंने सत्यजित राय की फिल्मे और फिर श्याम बेनेगल की 'अकुर' देखी। सच्ची बात कहूँ, तमाम शोर-शराबे के बावजूद सत्यजित राय ने देशी फिल्मो के बारे मे मेरी अन्यमनस्कता को भंग नही किया। मैंने राय की चार फिल्मे देखी, मुझे अच्छी भी लगीं, लेकिन इतनी अच्छी नही कि मैं लगातार वे फ़िल्में देख सकूँ। राय का स्ट्राग प्वाइंट उनके कैमरे की आँख है। उन्होंने बगाल के देहात की ग़रीबी तथा कलकत्ता जैसे महा-नगर मे एक ग़रीब परिवार के संघर्ष के बहुत ही यथार्थ चित्र दिखाये हैं। लेकिन बस इतना ही। उनकी फिल्में न दिमाग को झकझोरती हैं न दिल को प्रभावित करती है। उनकी अन्तिम फ़िल्म मैंने 'शतरंज के खिलाड़ी' देखी। मुझे ऐसी निराशा हुई कि मैं बयान नहीं कर सकता। यह जानकर कि भारत का जगत प्रसिद्ध निर्देशक प्रेम चन्द की कहानी का मर्म नही पकड़ सका, मुझे बेहद तकलीफ़ हुई।

'शतरज के खिलाड़ी' मे भी उनके कैमरे का कमाल है। अस्त होते सूरज का बिम्ब अस्तोन्मुख सम्राट वाजिद अली शाह के चेहरे पर दो-बार पड़ता है और त्रासदी को द्विगुणित कर जाता है, पर कहानी का मुख्य नुक्ता श्री राय गोल ही कर गये हैं। 'शतरंज के खिलाड़ी' के

माध्यम से प्रेमचन्द बताना चाहते थे कि भोग-विलास और ऐय्याशी मे लिप्त वाजिद अली शाह का सामन्त-समाज इतना गिर गया था कि देश-प्रेम की भावना उन मनसबदारों के यहाँ एकदम लुप्त हो गयी थी। वे दोनो मनसबदार, जो राष्ट्र के अहं पर इतने बड़े आक्रमण को देखकर भी अदेखा कर गये, अपने अहं पर हल्की-सी चोट बरदाश्त न कर पाये और कट मरे। शौर्य की कमी वहाँ न थी, कमी थी राष्ट्रीय-भावना और राष्ट्रीय-प्रेम की।

मैंने एक इण्टरव्यू पढा था। जिसमें किसी पत्रकार ने राय से इस बारे मे सवाल किया था तो उन्होने कहा था कि उनके सहयोगियो ने इस सदर्भ मे काफी छान-बीन की और उन्होने पाया कि शतरंज के खेल मे कभी किसी सामन्त ने दूसरे की हत्या नही की, इसलिए उन्होने वह घटना निकाल दी और फिल्म मे शतरज के प्रतीक को अंग्रेजों की चालबाजी के (फुहड) मुद्दे से जोड दिया। पढ़कर मेरी समझ में बात आ गयी कि तमाम शोर-शराबे के बावजूद क्यो राय की फिल्में मुझे प्रभावित नही कर पायी। विदेशी दर्शको को कर पायीं, क्योकि उनमें भारत की गरीबी का यथार्थ चित्रण है, जो उन्हें भाता है। जैसा कि मैंने कहा, राय केवल कुशल कैमरा मैन हैं, अद्भुत शिल्पी हैं, वे न चिन्तक हैं न संवेदनशील कलाकार!

'शतरंज के खिलाडी' के संदर्भ मे सवाल यह नही कि कभी ऐसा हुआ है या नही। सवाल यह है कि कहानी मे जब वैसा होता है तो यथार्थ लगता है या नही और प्रेमचन्द जो कहना चाहते हैं, वह कह पाये या नहीं? उस समाज के पतन को प्रेमचन्द ने कहानी के जिस नुक्ते से जनाना चाहा है, क्या वह सही लगता है या नहीं? दूसरे शब्दों मे कहें कि प्रेमचन्द के चिन्तन का सत्य कहानी का—कला का सत्य बनता है या नहीं? टालस्टाय ने अपने निबन्ध 'कला क्या है' में यह बखूबी बताया है कि ज़िन्दगी के यथार्थ और कला के यथार्थ में क्या अन्तर होता है? ज़िन्दगी का यथार्थ यदि कलाकृति में अविश्वसनीय लगता है तो कलाकार यह कह कर छुट्टी नहीं पा सकता कि उसने वैसा स्वयं

देखा है । इसके बरअक्स यदि कल्पना का यथार्थ कलाकृति में नितान्त विश्वसनीय लगता है तो यह आपत्ति नही की जा सकती कि ऐसा नहीं हुआ था । और मैं कहना चाहूँगा कि प्रेमचन्द ने भले ही कल्पना से वह कहानी लिखी हो, पर उनके चिन्तन का सत्य उस कथा का सत्य बन गया है और यही उस कहानी की महानता है । यदि राय कला के सत्य को न देख कर वैसी कोई घटनाएँ ढूँढते रहे तो मैं इसके सिवा क्या कह सकता हूँ कि फ़िल्म टेकनिक की उन्हे कितनी भी समझ क्यो न हो, वे उस उत्कृष्ट रचना के मर्म को नही समझ पाये ।

जैसा कि मैंने कहा मैं राय की तीन चार फ़िल्मे देख चुका था, जब मैंने 'अकुर' देखी । मैं स्वीकार करूँगा कि उस फिल्म के कई दृश्य मेरी याद के पर्दे पर अमिट प्रभाव छोड़ गये और अन्तिम दृश्य को देख कर तो बेनेगल के आर्टिस्ट के प्रति मन अतीव सराहना से ओत-प्रोत हो आया । 'अंकुर' के बाद मैंने 'मन्थन' देखी फिर 'भूमिका' भी देखी । उनकी तीनो फिल्मे मैंने दो-दो बार देखीं । 'अंकुर' मुझे इनमें श्रेष्ठ लगी और सच कहूँ तो राय की फ़िल्मो से कहीं ज्यादा अच्छी, क्योंकि जहाँ राय की फ़िल्म आँखों को अच्छी लगती है, वहाँ 'अंकुर' दिमाग़ को झकझोरती और सोचने पर बाध्य कर जाती है । बेनेगल ने उस क्रूर जमीदारी प्रथा के प्रति अपना आक्रोश उस बच्चे के द्वारा सशक्त ढंग से व्यक्त कर दिया है जो अन्तिम दृश्य में ज़ोर से एक पत्थर युवा जमींदार की खिड़की की ओर फेंकता है और उस बच्चे की उस बेइ-ख़्तियार प्रतिक्रिया के माध्यम से हम उन गरीब धरती-विहीन मजदूरों में पनपते विद्रोह के 'अंकुर' को देखते हैं ।

इसी संदर्भ में मुझे मृणालसेन की 'मृगया' की याद आती है । राय और बेनेगल से मृणाल इस मायने में भिन्न हैं कि वे नितान्त प्रतिबद्ध फ़िल्मकार हैं, 'मृगया' 'अंकुर' के करीब पड़ती है, पर उसकी चोट साफ़ और स्पष्ट है । कैमरे का कमाल राय में भी है, बेनेगल में भी और मृणाल सेन में भी । 'अंकुर' में जब युवा जमींदार अपनी नौकरानी को प्यार का निमन्त्रण देता है, उससे 'शबाना' के रूखे चेहरे पर बहुत ही

क्षीण रूप से प्रस्फुटित होने वाली मुस्कान को जैसे बेनेगल ने फिल्माया है, वह अविस्मरणीय है। झोपडी मे लेटी गर्भवती पत्नी को जब गूगा पति (साधु मेहर) देखता है तो वह दृश्य भी बडी ही कुशलना मे फिल्माया गया है। 'मृगया' का पहला और अतिम दृश्य मेरी याद के पर्दे पर ऐसे नक्श हो गये है, जैसे मैंने उन्हे कल देखा हो। लेकिन जाहिर है कि राय की तमाम फिल्मो से (जो मैंने देखी) 'अकुर' और 'मृगया' का कण्टेण्ट कही जोरदार, मर्मस्पर्शी और प्रभावी है।

'अंकुर' देखने के बाद चूकि नयी फिलमो के प्रति मेरी रुचि जागृत हो गयी थी, इसलिए जब मेरे परिवार वाले 'कोशिश' देख कर आये और उन्होने उसकी भरपूर प्रशंसा की तो यद्यपि फिल्म काफी दूर कीडगज के एक सिनेमा हाल मे लगी थी, मैं उसे देखने चला गया।

०

गुलजार का नाम तो मैंने काफी पहले से सुन रखा था, लेकिन मेरे दिल मे उसके लिए कोई वैसा आदर नही था। बहुत वर्ष पहले मैं बम्बई गया था। हमेशा की तरह बेदी (राजेन्द्र सिंह) के यहाँ ठहरा था। मेरे एक पुराने कथाकार मित्र मधुसूधन उन दिनो कमाल अमरोही के असिस्टेण्ट थे। उन्ही से मिलाने बेदी मुझे ले गये थे और कमाल साहब से भी मुलाकात हुई थी। बाद में मधुसूदन से मालूम हुआ था कि मीनाकुनारी 'पाकीज़ा' और कमाल दोनो को अधर मे छोड़ कर किसी सिक्ख युवक के साथ रहने लगी है।

वर्षों बाद सुना कि मीना कुमारी बीमार रहती है। फिर यह कि वह 'पाकीजा' को खत्म करने के लिए तैयार हो गयी है। फिर 'पाकीजा' बनी, रीलीज हुई और उसका हिट गीत 'इन्हीं लोगो ने ले लीना दुपट्टा मेरा' हर घर, गली, बाजार में सुनायी देने लगा।

फिर सुना मीनाकुमारी अल्लाह को प्यारी हो गयी। लोग हफ्तों उसके बारे मे बातें करते रहे। उसका नाम आता तो गुलजार का भी आता। फिर एक दोपहर मैं अपने मित्र कवि गोपीकृष्ण गोपेश को देखने गया। उन्हें दिल का पहला दौड़ा पडा था, उनके लड़के की शादी थी और

वे अपने सीढ़ियो वाले घर के बदले अपने स्नेही धनपति राजा मुनुआ के ज़ोर देने पर बच्चा जी की धर्मशाला मे उठ आये थे। मैं गया तो चारपाई पर लेटे थे। गोपेश सहृदय और भावुक कवि थे। उनके सिरहाने मैंने एक पॉकेट-बुक देखी—'मीनाकुमारी की शायरी'—सम्पादक गुलज़ार। आत्मविभोर होकर गोपेश मुझे मीनाकुमारी के शे'र सुनाते रहे। मीर, ग़ालिब, ज़ौक, मोमिन, जिगर, फिराक, मजरूह और फैज़ के शे'रों से आशना कानो को वे शे'र कुछ ज़्यादा नही भाये। मुझ पर न उन शे'रो का वैसा प्रभाव पडा, न उनके सम्पादक का।

०

मैं 'कोशिश' देख कर आया तो लड़के ने पूछा—'क्यो पापा जी ?'
'बहुत अच्छी फिल्म है।' मैंने कहा।

आज मैं स्वीकार करता हूँ कि 'कोशिश' देखने के बाद गुलज़ार के प्रति मेरा पूर्वग्रह सहसा मिट गया और लगा कि विमल राय और बेनेगल के बाद एक और नया डायरेक्टर सामने आया है, जिससे सुरुचिपूर्ण और सोद्देश्य फिल्मो की आशा की जा सकती है। 'कोशिश' के बाद ही मैंने शायद गुलज़ार की पुरानी फ़िलम 'मेरे अपने' देखी और बाद मे 'परिचय' 'किनारा' और 'मीरा।' मैंने 'आँधी,' 'मौसम' और 'किताब' की भी बहुत प्रशंसा सुनी है, लेकिन जिस तरह बासू चटर्जी की 'सारा आकाश' और 'रजनीगन्धा' की काफी तारीफ़ सुनने और बासू से मिल आने के बावजूद मैं उन्हें अभी तक नही देख सका, इसी तरह गुलजार की भी ये फ़िल्में नहीं देख सका। हालाँकि ये सभी इलाहाबाद मे आकर जा चुकी है। लेकिन मैं उन्हे देखूँगा जरूर, यह तय है। भारतीय फ़िल्मो के प्रति मेरी उदासीनता को दूर करने के लिए मैं बेनगल और गुलज़ार दोनों का आभारी हूँ।

मुझे मेरे लड़के ने बताया है कि 'कोशिश' और 'परिचय' के कथानक गुलजार ने विदेशी फ़िल्मों से लिये हैं। मैं सिर्फ़ यह कहना चाहता हूँ कि यदि ऐसा हुआ है तो भी गुलज़ार ने उनका रूपान्तर उसी दक्षता से किया, जिस दक्षता से प्रोफ़ेसर कानेतकर ने 'वाटरलू ब्रिज' का, जिसके

आधार पर शान्ताराम ने अपनी प्रसिद्ध फिल्म 'आदमी' बनायी। उन्होने मूल कथा को ऐसा लिबास पहनाया था कि वह पूरी तरह भारतीय हो गयी। मैंने 'आदमी' देखने के बाद 'वाटरलू ब्रिज' देखी थी। मै यकीन के साथ कह सकता हूँ कि शान्ताराम ने कहानी मे जो उद्देश्य भर दिया था (अपनी जिन्दगी पर जिसके प्रभाव का मैं उल्लेख कर चुका हूँ) 'वाटरलू ब्रिज' मे उसका कही निशान तक नही था। इस सिलसिले मे गुलज़ार की 'कोशिश' हमारे उन तमाम प्रोड्यूसरो के मुकाबिले मे श्रेयस्कर है, जो कत्ल-गारतगरी, लड़ाई-झगडे, बलात्कार और अनाचार-भरी सनसनीखेज हिट विदेशी फिल्मो की भोंडी नकल हमारे दर्शको के सामने आये दिन पेश किया करते है।

गुलज़ार ने यदि थीम कही से ली है तो सोद्देश्य ली है और फिर उसे पूरी तरह भारतीय परिवेश मे ढाल दिया है। यही उन्होने 'कोशिश' मे किया, यही 'परिचय' मे और मैं उनके रूपान्तरकार को दाद देता हूँ।

गुलज़ार की ये दोनो फ़िल्मे मुझे लगभग निर्दोष लगी, जो अपने मे बहुत बडी बात है। मैं गिनाने लगूँ तो उनकी शेष फ़िल्मो में कई असम्भाव्य स्थितियाँ गिना सकता हूँ, लेकिन 'कोशिश' और 'परिचय' अत्यन्त सहज, सन्तुलित और लगभग यथार्थ कहूँ कि 'नीट' फिल्में बनी हैं। मैं उनमे राय की तरह ज़िन्दगी का यथार्थ नही खोजता। हो सकता है कोई सुन्दर स्वस्थ युवक किसी गूँगी-बहरी लडकी से शादी न करे—अपने पिता के ज़ोर देने के बावजूद! पर 'कोशिश' में जब संजीव कुमार का लडका अन्ततः ऐसा करता है तो अयथार्थ नही लगता। यह भी हो सकता है कि आम ज़िन्दगी में कोई धनी ज़मीदार किसी गरीब मास्टर से अपनी पोती की शादी न करे, लेकिन 'परिचय' मे जैसे वह सब होता है, असम्भाव्य नही लगता है। ज़िन्दगी का यथार्थ नहीं, मैंने उनमें कला का यथार्थ, कहूँ कि सामाजिक यथार्थ पाया और गुलज़ार के निर्देशक के लिए मन में सहज प्रशंसा का भाव पैदा हो गया।

मैं स्वय दो वर्ष फ़िल्मों में काम कर आया हूँ। नीतिन बोस जैसे प्रसिद्ध डायरेक्टर और अशोक कुमार जैसे सफल और सहज अभिनेता

के साथ काम कर आया हूँ। स्टूडियो में सेट कैसे बनते हैं और फ़िल्म कैसे शूट होती है, मैं सब जानता हूँ। फ़िल्मी दुनिया में दो वर्ष गुज़ार आने वाला मेरे जैसा लेखक, अभिनेता और नाटककार यदि फ़िल्म देखते हुए सेट की, शूटिंग और सीक्वेएंसिस की बात भूल जाय और उसका ध्यान फिल्म पूरी तरह अपने मे केन्द्रित कर ले तो मैं उस फ़िल्म के निर्देशन की दाद दिये बिना नही रह सकता। 'कोशिश' और 'परिचय' को देखते हुए मैं पूरी तरह उन फ़िल्मो मे तल्लीन हो गया। उन दोनो फिल्मो के कई दृश्य आज भी मुझे स्मरण हैं।

स्मरण तो मुझे 'मेरे अपने' के भी कुछ दृश्य है—विशेष कर काग्रेसी नेता के रूप मे महमूद का छोटा-सा सीन, जिसमें वह कहता है—'द होल थिंग इज़ दैट' या 'आई डज़ नाट डू इट' और जब उसका चमचा उसे समझाता है कि आई के साथ डू आना है तो अनपढ़ नेता वही वाक्य दोहराता हुआ कहता है कि डज़ के साथ वाक्य मे ज़ोर पैदा होताहै! फिर लड़ती हुई टोलियो मे सफ़ेद साड़ी पहने मीनाकुमारी का प्रोफ़ाइल; 'किनारा' में हेमा मालिनी का नृत्य और हेमेन्द्र और उसके प्रेम-प्रसंगों का मोटाज या फिर 'मीरा' के कई दृश्य—डॉक्टर लागू और विनोद खन्ना का घोड़ों पर सवार आना, विद्या सिन्हा का ज़हर चाट कर मर जाना; अकबर के रूप में अमजद खाँ का और बीरबल के रूप में भारतभूषण का आना और मीरा का गाना सुनते हुए मोतियो का हार फेंकना और ओम शिवपुरी का राजपुरोहित के रूप में न्यायाधीश की गद्दी पर बैठ कर मीरा को दण्ड देने वाला वह भव्य और अविस्मरणीय दृश्य! ओम शिवपुरी को मैंने मंच पर भी देखा है और फ़िल्मों में भी। वे थोड़ी ओवर एक्टिंग भी करते हैं, लेकिन उनकी ऐसी भव्य एक्टिंग मैंने और कहीं नहीं देखी।

इसके बावजूद ये तीनों फ़िल्में मुझे 'परिचय' और 'कोशिश' के मुकाबिले मे कमतर लगीं, क्योंकि उनमें कई असम्भाव्य स्थितियाँ हैं। वे जो कला की यथार्थता नहीं बन पायीं, झूठी लगती है और ध्यान भटकाती हैं।

'अंकुर' और 'मंथन' के साथ 'कोशिश' और 'परिचय' की याद आने

पर लगता पर है कि बेनेगल की फिल्मे दिमाग को झकझोरती हैं, जबकि गुलज़ार की दिल पर असर करती है। मुझे गुलजार की फिल्मे देखने के बाद बार-बार शान्ताराम की याद आती है। सोद्देश्यता और समाज परकता गुलजार मे शान्ताराम जैसी ही है, मर्म को छू लेने की शक्ति उनमे शान्ताराम की अपेक्षा थोडी ज्यादा है।

कभी-कभी मुझे अफसोस होता है कि गुलजार जैसे सहृदय निर्देशक अपने कथानको के लिए विदेशी फिल्मो की शरण जाते है। हमारे साहित्य मे उन जैसे उर्दू-हिन्दी भाषी सेंस्टिव और सवेदनशील निर्देशक की रुचि के अनुकूल न जाने कितनी कहानियाँ मिल जायेंगी, जो उनकी हमदर्द दृष्टि की अपेक्षा रखती हैं।

इधर सुनता हूँ कि गुलज़ार भी पुन 'देवदास' बना रहे हैं। 'देवदास'—जो घातक प्रेम के आदिम फार्मूले की कहानी है। मैं गुलजार से कहना चाहता हूँ कि वे शौक से 'देवदास' बनाये, लेकिन कही यह नुक्ता भी रख दें कि यह आतमघाती प्रेम ज़िन्दगी का शत्रु है। हाली के शे'र मे थोडी तरीमम करके ही यदि अन्त मे कोई फकीर ये पक्तियाँ गा दे तो शायद सकेत दर्शको तक पहुँच जाय।

ऐ इश्क तू ने अक्सर कौमों को खा छोड़ा
जिस घर से सर उठाया उसको बिठा के छोडा
रायो के राज छीने शाहो के ताज छीने
बलशालियों को तूने निर्बल बना के छोड़ा

कुछ इसी आशय का अपना गीत देवदास की कहानी मे बुन कर गुलज़ार उस फिल्म को सोद्देश्य मोड दे मकते है।

०

मुझे मेरा एक अजीज़ बताता है कि गुलज़ार पहले अंधेरी में घूम-घूम कर रंग बेचते थे, फिर मोटर मैकेनिक के तौर पर काम करते रहे। अन्य कई तरह के पापड बेलते हुए अन्तत फ़िल्मों में कवि, कथाकार, संवाद लेखक और निर्देशक हो गये।

अब मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि फ़िल्मी दुनिया मे एक-से-

बढ़-कर-एक अनपढ़, अधपढ, धामड और मूर्ख गीतकार, कथाकार और निर्देशक भरा पडा है तो मैं सोचता हूँ कि एक संवेदनशील कवि; कथाकार और सोद्देश्य फिल्मकार बनने के लिए गुलज़ार को स्वयं ही अपने आपको कैसे शिक्षित बनाना पड़ा होगा। मैं गुलजार को या उन के जीवन को नही जानता, लेकिन निश्चय ही उन्होंने 'सेल्फ़-एज्यूकेशन' अथवा विमल राय, शान्ताराम या ऐसे ही किसी गुरु की दीक्षा के द्वारा यह सिद्धि पायी होगी। क्योंकि जहाँ तक स्कूल-कॉलेज की शिक्षा का सम्बन्ध है, शशिधर मुकर्जी तो एम० ए० है और उतने शिक्षित होने पर भी उन्होने निरुद्देश्य फ़िल्मों का निर्माण कर इस उद्योग को, जो देश और समाज का भला कर सकता था, कैसे कुमार्ग पर डाला है— इसका मैं उल्लेख कर चुका हूँ। फिल्मी इतिहास के पन्नों पर देवकी बोस, बरुआ, नीतिन बोस, विमल राय, शान्ताराम और सत्यजित राय की तरह (क्योंकि यथार्थवादी फिल्मे बनाने का श्रेय तो राय को देना ही पडेगा) अपना नाम छोड़ने के लिए गुलजार को अभी बहुत संघर्ष करना पडेगा। चचा ग़ालिब का शे'र याद आता है:

दाम-ए-हर मौज मे है हलका-ए-सद-काम-निहंग
जाने क्या गुजरे है क़तरे पै गुहर होने तक

●

मण्टो और उसकी कहानियाँ

•

मेरी यह पुरानी आदत है कि, अपना लिखते-लिखते मैं दूसरो की रचनाएँ पढता रहता हूँ। किसी नये लेखक की अथवा किसी पुराने लेखक की नयी पुस्तक मेज़ पर होती है तो उसे पढ़ता हूँ, वरना रैक से कोई पुरानी पसन्दीदा पुस्तक उठा लाता हूँ और पहले से पढी हुई रचनाओ को फिर पढने लगता हूँ। मैंने यह हमेशा देखा है कि पुरानी उत्कृष्ट रचनाओ को दोबारा-सहबारा पढने मे उतना ही और कई बार उससे ज्यादा रस मिलता है, जो पहली बार पढ़ने पर मिला होता है, क्योकि तब रचना का कोई ऐसा नुक्ता, कोण अथवा आयाम सामने आ जाता है, जिस पर पहली बार नजर नही गयी होती।

जहाँ तक उर्दू कथाकारो का सम्बन्ध है, बेदी, बलवन्त सिंह और इस्मत चुगताई के साथ मण्टो मेरे पसन्दीदा कथाकार रहे हैं। न जाने उनकी उत्कृष्ट रचनाएँ मैंने कितनी बार पढ़ी हैं। मुझे यह मानने मे जरा भी सकोच नही कि मैंने हमेशा उनमे नया रस पाया है।

०

मण्टो आमतौर पर दो तरह की कहानियो के लिए प्रसिद्ध हैं: १—ऐसी कहानियाँ जिनमे सेक्स के किसी न किसी सूक्ष्म पहलू का उद्घाटन है, जो बहुत वाद-विवाद का कारण बनीं, अश्लील कहाईं और जिनके खिलाफ मुक़दमे चले। २—ऐसी कहानियाँ, जिनमें समाज अथवा व्यवस्था के खिलाफ़ भयंकर क्रोध और विक्षोभ है।

पहली तरह की कहानियों मे 'खुशिया,' 'धुआँ,' 'ब्लाउज,' 'काली शलवार,' 'बू,' 'नंगी आवाजें,' और 'ठण्डा गोश्त,' के नाम लिये जा

लिखते है । इसीलिए इस कहानी को उन्होने परचम के तौर पर अपनी शोभायात्रा मे (जो 'शऊर' नामक वृहद सकलन के रूप मे निकली है) इस्तेमाल कर लिया है । वे लोग मानो कहना चाहते है कि मण्टो की अन्य कहानियाँ महत्वपूर्ण नही, सिर्फ यही कहानी महत्वपूर्ण है । यह और बात है कि यह कहानी केवल जदीदियो के झण्डे के ही काम आयेगी, आम पाठक जिस प्रकार जदीदियो की कहानियाँ नही समझ सकते, लाख सर पटकने पर इसको भी नही समझ पायेंगे ।

अपनी ज़िन्दगी के अन्तिम दिनो मे लगातार तीन हफ़्तो तक, मण्टो ने लाहौर के एक प्रकाशक के लिए एक बोतल शराब की कीमत पर रोज़ एक कहानी भी लिखी । ऐसी कहानियो की संख्या बीस है जो ११ मई १६५४ से लेकर २ जून १६५४ तक लिखी गयी । मैं अपने अनुभव से जानता हूँ कि मण्टो अपनी कहानियो पर बहुत मेहनत करते थे । उनकी कहानी 'स्वराज्य के लिए,' जो उन्होने बम्बई मे फिल्मिस्तान की नौकरी के ज़माने मे लिखी और वक्त-वक्त पर मुझे सुनायी, कई महीनो में खत्म हुई थी । जाहिर है एक सिटिंग में लिखी गयी कहानियाँ सब की सब उच्च कोटि की नही हैं, लेकिन इनमे भी 'खुदकुशी' जो २५ मई १६५४ को लिखी गयी और 'कमीशन' (जो कहानी नही नाटक है और उस सिलसिले की अन्तिम रचना है) उच्च कोटि की कृतियाँ हैं ।

•

मण्टो ने अपना साहित्यिक जीवन एक अनुवादक के रूप मे शुरू किया । उन्होने पहले कुछ रूसी कहानियो का अनुवाद किया, फिर विक्टर ह्यूगो के एक उपन्यास खण्ड का, जो 'सरगुजश्त-ए-असीर' के नाम से 'उर्दू बुक स्टाल' लाहौर से छपा था । लेकिन वे जल्दी ही मौलिक कहानियाँ लिखने लगे । मैं नहीं जानता उन्होंने किन रूसी कथाकारो की कहानियो के अनुवाद किये, क्योकि वे कही छप नही पाये । लेकिन जब उन्होने मौलिक कहानियाँ लिखनी शुरू कीं तो वे मा'म

(समरसेट मा'म) से बुरी तरह प्रभावित थे और अपने तमाम दोस्तों को वे मा'म के अफसाने पढने की सलाह देते थे। मैं यह समझता हूँ कि मण्टो ने चाहे कहानी लिखना तो मा'म के प्रभाव मे शुरू किया (ऊपर मैंने जिन तीसरी तरह की कहानियो का उल्लेख किया है, उन पर मा'म का प्रभाव साफ जाहिर है) लेकिन मण्टो जल्दी ही उस प्रभाव से निकल गये। प्रगतिशील आन्दोलन का ज़माना था और तत्कालीन सभी कथाकारो की तरह मण्टो पर भी उस आन्दोलन का गहरा प्रभाव पड़ा। मण्टो की कहानियो मे ये दोनो प्रभाव उनकी अन्तिम कहानियो तक देखे जा सकते है। एक तरफ मा'म के रग की ऐसी कहानियां है, जिनमे कोई सामाजिक उद्देश्य नही, वे अत्यन्त कलाकारिता से मानव मन के किसी अछूते पहलू का उद्घाटन करती हैं, दूसरी ओर ऐसी कहानियां हैं, जिनमे समाज या व्यवस्था के खिलाफ भयकर विक्षोभ है और इनकी सोद्देश्यता असदिग्ध है।

मुझे मण्टो हमेशा मा'म से कहीं बेहतर और ऊँचे कथाकार लगे है, क्योकि जहाँ तक मैंने मा'म को पढ़ा है, वह मानव की नियति के प्रति निरपेक्ष्य है—सिनिसिज़म की हद तक। वह मानव-नियति का महज दर्शक या चितेरा है, जब कि अपनी उत्कृष्ट कहानियो में मण्टो मानव-नियति के प्रति निरपेक्ष नही है। वे उसमें भागीदार हैं, इन्वाल्वड हैं, उसका अग हैं। अपनी हर ऐसी कहानी में मण्टो स्वयं मौजूद हैं—'खुशिया' मे खुशिया है तो 'ब्लाउज़' में मोमिन; 'हतक' में सुगन्धी तो 'नगी आवाजें' मे भोलू; 'स्वराज्य के लिए' में गुलाम अली हैं तो 'प्रगतिशील' मे जुगिन्दर; 'नया कानून' में मंगू कोचवान तो 'टोबा टेकसिंह' मे पागल सिक्ख; 'बाबू गोपीनाथ' में वे बाबू गोपीनाथ है तो 'मन्त्र' मे नन्हा राम। मण्टो की कहानियों में जो भी व्यक्ति सहता है—वह समाज अथवा व्यवस्था का जुल्म हो अथवा अपनी भावुकता-जनित मूर्खता का परिणाम या फिर अपनी विकृतियों (परवर्शन्ज) की मार—वह मण्टो स्वयं हैं। वे महज दर्शक नहीं भोक्ता हैं। इसीलिए मा'म से प्रभावित हो कर भी वे मा'म की अपेक्षा बेहतर कथाकार हैं।

०

जैसा कि मैंने पहले भी किसी स्थल पर लिखा है —मण्टो उतने बद नही थे, जितने बदनाम थे। वे बेहद भाव प्रवण लेखक थे। जब उनकी अपेक्षाकृत निरीह कहानी 'खुशिया' के खिलाफ किसी मजहबी पर्चे मे सख्त नोट लिखा गया और उस पर अश्लीलता का इल्ज़ाम लगाया गया तो उन लोगो को चिढाने के लिए वे लगातार अश्लील कहानियाँ लिखते चले गये। जब व्यवस्था ने उनके खिलाफ़ मुकदमे चलाये तो मण्टो ने उसी कलाकारिता और कटु यथार्थता से व्यवस्था के झूठ और जुल्म का पर्दा फाश किया।

मैंने मण्टो की वे तथाकथित अश्लील कहानियाँ न सिर्फ़ कई बार स्वय पढी है, वरन् स्व० यशपाल को भी सुनायी है। वे मुझसे सहमत थे कि वे कहानियाँ भी ऐसी मानवीय सवेदना से भरी है, जो मन को कचोट जाती है। संवेदनशील पाठक को उनकी कचोट झकझोर जाती है और अश्लीलता कही भी नही छूती।

●

कृष्णचन्द्र : शिल्पी या शैलीकार

कृष्णचन्द्र के साथ शिल्पी का विशेषण लगाना, मैं नही जानता, कहाँ तक सही है। साधारण अध्यापक अथवा आलोचक प्रायः हर प्रसिद्ध रचनाकार के साथ शिल्पी का विशेषण लगा देते हैं, लेकिन हर रचनाकार शिल्पी नहीं होता। कुछ शिल्पी न होकर शैलीकार होते है। कृष्ण निश्चय ही शैलीकार थे—कहा जाय, जन्म-जात शैलीकार थे।

कृष्ण मे कुछ ऐसी ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा थी कि मैं उन्हें जीनियसो की कोटि में गिनता हूँ और जैसा कि कुछ वर्ष पहले 'नयी दिल्ली' मे एशियाई लेखको के वर्कशाप का उद्घाटन करते हुए मैंने कहा था—मैं उन लोगो को जीनियस मानता हूँ, जिन्हें भगवान ने ऐसी प्रतिभा दी हो कि वे कागज़ कलम लेकर बैठें तो अनायास धारा-प्रवाह लिखते चले जायँ। न उन्हें कही काट-छाँट की जरूरत पडे, न परिवर्तन-परिवर्द्धन की। उनके मुकाबले मे शिल्पी मैं उनको मानता हूँ, जो सोच-विचार के बाद अपनी रचना की इमारत उठाते हैं और जैसे कुशल कारीगर माप-जोख कर ईंट-पर-ईंट रखता चला जाता है और कहीं से दीवार को टेढ़ा-मेढ़ा नहीं होने देता, इसी तरह शिल्पी न केवल अपनी रचना की नीव सोच-विचार के बाद रखते हैं, वरन् एक-एक शब्द एक-एक वाक्य जमाते हुए उसकी इमारत उठाते हैं। जरा ठीक नही लगता तो काटते-छाँटते, संशोधन और परिवर्द्धन करते हैं। यह

'कथा शिल्पी कृष्णचन्द्र' के शीर्षक से 'सारिका' सम्पादक कमलेश्वर ने यह लेख माँगा था। लेख उन्हें दिया गया तो उन्होंने इसे नहीं छापा।

और बात है कि अन्ततः इन शिल्पियो को भी जीनियस मान लिया जाता है, क्योकि भगवान जो चीज जन्म से उन्हें नही देता, उसे वे अपने श्रम और सूझ-बूझ से पैदा कर लेते हैं।

जीनियसो मे एक दूसरा गुण (या दोष) यह होता है कि वे लिखने पर आते हैं तो हफ्तो-महीनो लिखते चले जाते हैं और नही मूड होता तो वर्षों मौन रह जाते है। फिर कभी लिखने लगते हैं तो उनका कलम उसी अनायासता से चलने लगता है और पता ही नही चलता कि यह लेखक कभी आऊट आफ प्रेक्टिस भी हुआ है।

जीनियस की इस परिभाषा पर भी कृष्ण चन्दर पूरे उतरते थे। जब वे पैड लेकर कहानी लिखने बैठते तो जब तक पहला पैरा न पूरा हो जाय दो-चार कागज फाड़ते, लेकिन जहाँ पहला पैरा पूरा होता, फिर वे बिना रुके लिखते चले जाते। दिल्ली मे, रेडियो की नौकरी के शुरू में, छुट्टी के एक दिन मैंने उन्हे दिन भर मे दो कहानियाँ तक लिखते देखा। यह और बात है कि पहली कहानी 'हुस्न और हैवान' बहुत अच्छी उतरी और दूसरी साधारण ! फिर शायद १९४२ मे ही, कृष्ण एक महीने की छुट्टी लेकर कश्मीर गये, अपना उपन्यास 'शिकस्त' और सात कहानियाँ लिख लाये, जिनमे 'बालकनी' जैसी प्रसिद्ध कहानी भी थी।

जहाँ मैंने कृष्ण को इस तरह धारा-प्रवाह लिखते देखा है, वहाँ महीनो-वर्षों चुप लगाये भी पाया है। जिन दिनो वे रेडियो में नाटक विभाग के इंचार्ज थे और हर सप्ताह कोई-न-कोई नाटक ब्रॉडकास्ट होता था, कृष्ण बहुत कम लिखने थे। यही हाल शालामार पूना में उनकी नौकरी के दिनो का है। ऐसे तमाम अवसरो पर उन्होने कम लिखा। लेकिन जब वे अपेक्षाकृत खाली होते अथवा उनका हाथ तंग होता, वे धारा-प्रवाह लिखते।

चूंकि भगवान सब को सब कुछ नही देता, जिसे इतनी प्रतिभा देता है, उसे उतना ही असंतुलन भी देता है, इसलिए कृष्ण की रचनाओं मे भी इस असंतुलन की झलक मिलती है। बहुत अच्छी रचना करते हुए वे बहुत मामूली रचनाएँ भी कर देते थे। चूंकि लिखी हुई

रचनाओ को वे छपने के बाद ही पढ़ते, इसलिए जहाँ उनकी तमाम रचनाओ मे उनकी प्रवहमान शैली के गुण समान रूप से विद्यमान है, वहाँ वे दूसरे गुण समान नही हैं, जो एक रचना को उच्चकोटि की रचना बनाते है ।

इस छोटी-सी भूमिका के बाद अब मै अपनी दृष्टि से कृष्ण की कथा-शैली के कुछ गुणो का उल्लेख करूँगा ।

०

मेरे ख़याल से कृष्णचन्दर ने तीन तरह की रचनाएँ की है । (१) काल्पनिक रोमानी कहानियाँ, जिन्हे प्रकृति-सौन्दर्य के किंचित काव्यमय और अतिशयोक्तिपूर्ण चित्रण के सिवा यथार्थ का कोई संस्पर्श नही मिला । (२) काल्पनिक प्रगतिशील कहानियाँ, जिन्हे यथार्थ का संस्पर्श मिला है तथा (३) हास्य-व्यग्य भरे निबन्ध । चूकि कृष्ण के यहाँ कथानक उतना जरूरी नही था, जितनी शैली, इसलिए कई सग्रहो मे हास्य रस के ये निबन्ध भी कहानी के तौर पर शामिल कर लिये गये है और इनमे से कुछ जैसे 'खलल है दिमाग़ का' कहानियो के निकट पडते भी हैं । इन तीनो तरह की रचनाओ मे कृष्ण की शैली समान रूप से दृष्टिगोचर होती है ।

●

मैंने कृष्ण की सभी तरह की रचनाएँ पढ़ी हैं । उनके यहाँ स्पष्टतः तीन दौर दिखायी देते हैं । पहले दौर को मैं 'आगी' और यरक़ान (पीलिया) का दौर कहूँगा । इस दौर मे कृष्ण ने खालिस रोमानी कहानियाँ लिखी हैं । ये कहानियाँ 'तिलस्मे-ख़याल' और 'नज्ज़ारे' नामक उनके दो उर्दू कथा-संग्रहो मे छपी हैं ।

कृष्ण की पहली कहानी यरक़ान (पीलिया) है, लेकिन शायद छपी पहले (अथवा मैंने पढ़ी पहले) आगी । आज लगभग चालिस वर्ष बीत जाने पर भी उस कहानी के रोमानी प्रभाव की स्मृति अक्षुण्ण बनी हुई है ।—'आगी' एक अल्हड़ कश्मीरी चरवाही की कहानी है, जो परदेसी युवक से प्यार करती है—उसमे कश्मीर की घाटी है । चाँदनी

रात है। मकई के भुट्टो से दाने अलग करती और गाती औरतें हैं और वह अल्हड चरवाही आगी है। कृष्ण ने उससे कहीं अच्छी कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन आगी को पढ़ कर जो नशा तारी हुआ था, फिर नही हुआ। मुझे उस वक्त तक कहानियाँ लिखते लगभग बारह बरस बीत चुके थे। दो तीन बरस पहले मैं हिन्दी में भी लिखने लगा था, लेकिन उर्द से मेरा सम्बन्ध कटा न था। कभी पहला और कभी दूसरा मसौदा मैं उर्दू मे तैयार करता था। हो सकता है, मैं धीरे-धीरे उर्दू मे लिखना यकसर छोड देता और यदि मैं १६३८ के बाद फिर बहुत ज़ोर से उर्दू मे लिखने लगा तो उसमे उर्दू के क्षितिज पर बेदी और मण्टो के उदय के कुछ ही दिन पहले कृष्ण के उदय का कम हाथ नही। मुझे यह बात स्वीकार करने मे ज़रा भी संकोच नहीं कि 'आगी' और 'यरकान' को पढने के बाद उनके सृष्टा से मिलने की ज़बरदस्त इच्छा मन मे जाग उठी थी।

मुझे याद है, मैं 'आगी' और 'यरक़ान' पढ़ चुका था, जब 'हुमायूँ' (लाहौर) मे मैंने कृष्ण की एक सम्वाद-नुमा कहानी कमरा नम्बर ४४ पढ़ी। उसमे ऋषि नगर लाहौर के हिन्दू हॉस्टल का कुछ ऐसा खाका खीचा गया था कि मुझे लगा, हो-न-हो 'आगी' का रचयिता वहीं हिन्दू हॉस्टल मे रहता है। कुछ ही दिन पहले मैं स्वय ऋषि नगर के एक दो-मज़िले मकान के एक पोर्शन मे अपने भाई-भाभी के साथ निवास करने लगा था। दूसरे दिन सुबह सैर को निकला तो वापसी पर घोडा हस्पताल से ऋषि नगर को आने वाली सड़क पर हिन्दू हॉस्टल की पुरानी जर्जर इमारत में चला गया और कमरों के नम्बर पढ़ता हुआ कमरा नम्बर ४४ के सामने जा खड़ा हुआ।

कृष्ण ने अपने एक संस्मरण में इस मुलाकात का सविस्तार उल्लेख किया है। उस दिन मैं दो घण्टे हिन्दू हॉस्टल में बैठा। फिर कृष्ण मुझे मेरे घर छोडने आया तो हम पक्के दोस्त बन चुके थे। कुछ महीने ऐसा भी रहा कि कृष्ण ने कहानी लिखी तो मुझे सुनायी और मैंने लिखी तो उसे सुनायी। मुझे याद है कृष्ण ने 'दो फ़र्लांग लम्बी सड़क' लिखी थी

तो मैने उसमे से एक पैरा कटवा दिया था। मैंने 'अकुर' लिखी तो कृष्ण ने बहुत पसन्द की थी, पर उसके अंत पर उसे कुछ आपत्ति थी। फिर उसी साल बेदी भी हम मे आ मिला और हम लोगो ने लिखने मे ही एक दूसरे की मदद नही की, वरन् प्रकाशको को पटाने मे भी एक दूसरे का साथ दिया।

उसी ज़माने मे (या कहे कि दो-एक वर्ष पहले) लखनऊ मे इंग्लिस्तान से लौटने वाले कुछ नये अदीबो की यथार्थ भरी रचनाओ का एक संग्रह 'अगारे' छपा था और प्रेमचन्द के सभापतित्व मे पहली प्रगतिशील कान्फ्रेंस हुई थी। प्रेमचन्द की प्रसिद्ध कहानी 'कफन' छपी और ३६ मे उनका उपन्यास गोदान आया, तब कृष्ण रोमानी कहानियाँ लिख रहे थे, बेदी 'भोला,' 'छोकरी की लूट,' 'दस मिनट वारिश मे' और 'पानशाप' जैसी वैयक्तिक मनोविज्ञान की, मैं 'डाची' लिख चुका था और 'पिंजरा,' 'अकुर' जैसी मनोवैज्ञानिक यथार्थवादी कहानियाँ लिख रहा था कि एक तूफान की तरह प्रगतिशीलता का आन्दोलन लाहौर मे उठ खडा हुआ। कृष्ण इसके अगुआ थे। यहीं से उन की कहानियो का दूसरा दौर शुरू हुआ, जिसे 'दो फ़र्लांग लम्बी सडक' और 'बे-रंगो-बू' का दौर भी कहा जा सकता है और 'अन्नदाता' तथा बालकनी' का दौर भी। मेरे ख़याल मे कृष्णचन्द्र ने अपनी सर्वोत्कृष्ट कहानियाँ इसी दौर मे लिखी।

चूँकि कृष्णचन्द्र मरते दम तक प्रगतिशील रहे, इसलिए मण्टो या बेदी या मेरी तरह उन्होने फिर वैयक्तिक कहानियाँ नही लिखी, लेकिन आजादी के बाद—विशेषकर फिसादों की धूल-गर्द बैठ जाने (और कांग्रेसी हुकूमत के जम जाने) के बाद—कृष्ण की कहानियो मे से वह कडुवाहट और वह व्यंग्य निकल गया जो 'जिन्दगी के मोड पर,' 'अन्नदाता' और 'बाल्कनी' जैसी कहानियों की तमाम रोमानियत के बावजूद उनमे रचा हुआ है—कडुवाहट और दिल में घर करती हुई सी उदासी! देश के विभाजन पर कृष्ण ने जरूर बहुत ही तीखी कडुवी, यद्यपि सरासर काल्पनिक कहानियाँ लिखीं, जो उनके संग्रह 'हम वहशी हैं' में छपी, लेकिन बाद मे चूँकि धीरे-धीरे वे स्वयं व्यवस्था के अंग बन

गये, इसलिए (काग्रेसी नेताओ की तरह, जिनके पास जनता को भुलाने का ऐसा फार्मूला है, जिसमे वे महात्मा गाधी का नाम चाशनी की तरह मिलाते रहते हैं) कृष्ण ने भी तीसरे दौर की अपनी कहानियो का एक फार्मूला बना लिया—कुछ लैला मजनूं वाला प्यार, कुछ जालिम पूंजी पति का अत्याचार, कुछ प्रकृति अथवा किसी तन्वी के सौन्दर्य का चित्रण और सबको प्रगतिशील दर्शन मे लपेट कर वे कुछ ऐसा चटपटा अवलेह तैयार कर देते कि पाठक उनकी कहानियो को खूब चटखारे लेकर पढते (और यदि यह कहा जाय कि गुलशन नन्दा से वे कम लोकप्रिय नही रहे तो ग़लत न होगा ।) पिछले तीस वर्षों मे उन्होने 'जिन्दगी के मोड पर' और 'बालकनी' के टक्कर की एक भी कहानी नही लिखी, लेकिन 'महालक्ष्मी का पुल' 'प्रिंस फीरोज' और 'कालू भंगी' जैसी कुछ अच्छी कहानियाँ जरूर लिखी, जो उनकी दूसरे दौर की कहानियो से बहरहाल कमतर हैं ।

•

जहाँ तक कृष्ण की शैली का सम्बन्ध है, उसमें कुछ अजीब-सी अनायासता है—चादर की तरह सरकती पहाड की तेज़-रौ नदी की-सी रवानी, शब्दो के हीरे-मोती जिसके उथले पानी मे ऐसे चमकते-सरकते चले जाते है कि आभास ही नही होता । नगीनो की तरह वे उस पारदर्शी चादर मे जडे लगते हैं । भले ही कहानी खत्म करके कुछ हाथ न आये, लेकिन यह नही हो सकता कि पाठक कहानी पढ़ना शुरू करे और उसे बीच मे छोड दे ।

इधर अर्से से मैंने कृष्ण को पढ़ना छोड दिया था । मुझे जब इच्छा हुई, मैंने उसकी पुरानी कहानियाँ 'आंगी,' 'जिन्दगी के मोड पर,' 'कब्र' 'बालकनी,' 'दो फर्लांग लम्बी सडक,' 'बे रंग-ो-बू,' 'महालक्ष्मी का पुल आदि पढी हैं, और उनमें वही रस पाया है जो तब पाया था, जब मैंने उन्हें पहले-पहल पढ़ा था । ये उनकी शैली और शिल्प का (यदि उनकी कहानियो का कोई शिल्प है तो) उत्कृष्ट नमूना प्रस्तुत करती हैं । अपनी शैली में कृष्ण हमेशा अद्वितीय रहेंगे ।

फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ : दो रूप

●

फ़ैज़ दो दिन इलाहाबाद होकर चले गये। २५ मार्च १६८१ को सुबह वे आये थे, उसी शाम को विश्वविद्यालय के प्रागण मे उपकुलपति की ओर से श्रीमती महादेवी वर्मा के सभापतित्व मे एक विशाल सभा मे उनका अभिनन्दन किया गया। रात को शहर कोतवाल श्री विभूति नारायण राय के यहाँ उनके सम्मान मे भोज आयोजित हुआ। २६ को सुबह 'हिन्दुस्तानी अकादमी' में इलाहाबाद के साहित्यकारो ने उनका स्वागत किया। मैंने इन तीनों आयोजनो मे भाग लिया। हिन्दुस्तानी अकादमी की सभा के बाद फ़ैज़ थोडे समय के लिए मेरे यहाँ भी आये।

फ़ैज़ का जो रूप मैंने इलाहाबाद के उन दो दिनो में देखा, वह उस रूप से बहुत भिन्न है, जो १६४१ से ४४ तक दिल्ली मे उनके साथ बिताये गये तीन वर्षों मे दिखाई दिया था। इलाहाबाद मे मैंने फ़ैज़ की जो झलक देखी, वह १६७४ मे रीगा (सोवियत रूस) मे भारत, पाकिस्तान और बंगला देश के लेखकों की सगोष्ठी में भी देखी थी और 'पीस कौंसिल' की ओर से दिल्ली मे मनाई गयी 'प्रेम चन्द शताब्दी' के अवसर पर भी। जब-जब मैंने उनका यह रूप देखा है, मुझे उनके पहले रूप की याद आयी है।

---

१. प्रस्तुत लेख अश्क जी ने इलाहाबाद में फ़ैज़ के आगमन के सिलसिले मे 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के पाक्षिक के लिए लिखवाया था। सक्षिप्त रूप में वहाँ छपा भी था। अब अविकल यहाँ दिया जा रहा है।

०

इलाहाबाद की स्वागत सभाओ मे फैज ने लगभग वही-वही कविताएँ और गजले सुनायी और प्रेम तथा शान्ति के बारे मे वही-वही भाषण दिये। फैज का यह रूप कैसा है, इसके बारे मे अपनी ओर से कुछ न कह कर मैं उस उत्तर का उल्लेख करूँगा, जो उन्होने 'हिन्दुस्तानी अकादमी' की सभा मे इलाहाबाद के किसी युवक को दिया।

इलाहाबादी युवक ने पूछा, 'फैज़ साहब आपको यह शहर कैसा लगा ?'

फैज ने अपनी विशेष मुस्कान बिखेरते हुए कहा, 'कुछ दिन पहले दिल्ली मे था तो दिल्ली अच्छा लगा था, फिर कलकत्ता गया तो कलकत्ता अच्छा लगा, आज इलाहाबाद मे हूँ तो इलाहाबाद अच्छा लग रहा है, परसो बम्बई मे हूँगा तो वह अच्छा लगेगा।' उनका यह रूप, एक राजनेता-कवि का रूप था, जो वही कहता था, जो दूसरे सुनना चाहते थे।

न सिर्फ फ़ैज़ ने वही-वही नज्मे पढ़ी, उनकी तारीफ़ में बोलने वालो ने भी वही-वही शब्द उनकी प्रशंसा में कहे। शायद ही उनमे से कोई अन्तरग रूप मे उन्हे जानता था।

और तभी मेरी आँखो के सामने दिल्ली मे उनके और एलिस भाभी के साथ गुजारे गये तीन वर्ष गुज़र गये। उन दिनो हम—मैं और कौशल्या—हफ्ते-पखवाड़े लोधी कॉलोनी वाले उनके विशाल बंगले में जाते थे और शनि-इतवार वही बिताते थे। किसी सप्ताहान्त को फैज भी हमारे भार्गव लेन वाले क्वार्टर मे आते थे और एकाध दिन गुजारते थे। उन मुलाकातो में फ़ैज़ को मैंने न सिर्फ़ एक मददगार दोस्त, प्यार करने वाले पति, स्नेही पिता, बल्कि एक नर्म दिल अफ़सर के रूप में भी देखा और एक सवेदनशील और बेचैन शायर के रूप में भी।

लेकिन फ़ैज़ के उस रूप का चित्रण करने से पहले में फ़ैज़ और उनके काव्य से अपने परिचय और उस जमाने की कुछ स्मृतियों का उल्लेख करूँगा।

०

जनसभाओं में तो नही, लेकिन शहर कोतवाल के बंगले में डिनर के बाद किसी ने उनसे 'मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न मांग' सुनाने की फ़रमाइश की। फ़ैज़ कविता सुनाने लगे। वे तरन्नुम में नही पढ़ते, तहतुल्लफ़्ज पढते हैं, उनके लहजे में उतार-चढ़ाव और ज़ेर-ो-बम भी नही रहता। एक-सी आवाज में सपाट तरीके से नज़्म सुनाये जाते हैं और किसी पंक्ति या चरण को दोबारा नही पढ़ते। उनके स्वर का माधुर्य नही, उनके काव्य का माधुर्य है, जो श्रोताओं को बाँधे रखता है।

फैज सुना रहे थे :

मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब[1] न मांग

मैंने समझा था कि तू है तो दरख़शां[2] है हयात[3]

तेरा ग़म है तो ग़म-ए-दहर[4] का झगड़ा क्या है

तेरी सूरत से है आलम में बहारों को सबात[5]

तेरी आँखों के सिवा दुनिया में रखा क्या है

तू जो मिल जाय तो तकदीर नगूं[6] हो जाय

यूँ न था मैंने फ़कत चाहा यूँ हो जाय

और भी दु:ख हैं ज़माने में मुहब्बत के सिवा

राहतें और भी हैं वस्ल की राहत के सिवा

और मेरी कल्पना चालीस वर्षों के अन्तराल को पार कर प्रीतनगर के दिनों में चली गयी, जब एक्टिविटी स्कूल के अंग्रेज़ी अध्यापक विश्वनाथ ने मुझे एक उर्दू पत्रिका दी थी—जाने वह कौन-सी पत्रिका थी—अदबी दुनिया, अदब-ए-लतीफ, हुमायूं, नैरंग-ए-ख़याल या आलमगीर—जिसमें मैंने पहली बार यह कविता पढ़ी थी और मुझे तत्काल कण्ठस्थ हो गयी थी। इस कविता का प्रभाव मुझ पर कैसा पड़ा, इसके

---

१ प्रेयसी, २. प्रकाशवान, ३. ज़िन्दगी, ४. दुनिया का दु:ख, ५. स्थायित्व, ६ झुक जाय।

बारे मे और कुछ न कह कर मैं यही कहूँगा कि जब मैंने १९४८ मे अपना उपन्यास 'गर्मराख' लिखना शुरू किया तो उसके आधारभूत विचारो में एक विचार यह भी था जो उपर्युक्त चरण की अन्तिम दो पंक्तियो मे व्यक्त है ।

फैज़ कविता सुना रहे थे

अनगिनत सदियों के तारीक[1] बहीमाना[2] तिलिस्म[3]
रेशम-ो-अतलस-ो-कमख्वाब[4] में बुनवाये हुए
जा-ब-जा बिकते हुए कूचा-ओ-बाज़ार मे जिस्म
खाक मे लिथड़े हुए खून मे नहलाये हुए
जिस्म निकले हुए इमराज़ के तन्नूरो से
पीप बहती हुई गलते हुए नासूरों से
लौट जाती है इधर को भी नज़र क्या कीजै
अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजै

और मेरी आँखो के सामने प्रीतनगर के दिनो से भी साल भर पहले १९३८ की एक शाम गुज़र गयी, जब वाई०एम०सी०ए० के हाल माल रोड (लाहौर) में शहर के लेखको की एक साहित्यिक संस्था 'हलका-ए-अरबाब-ए-ज़ौक' की मीटिंग हुई थी । उसमे फ़ैज़ ने अध्यक्षता की थी और राजेन्द्र सिंह बेदी ने अपनी कहानी 'हमदोश' पढ़ी थी । कृष्ण (प्रसिद्ध कथाकार कृष्णचन्द्र एम०ए०) मुझे बरबस वहाँ ले गया था और उसके उकसाने पर मैंने उस कहानी की आलोचना कर दी थी, जिससे बहुत शोर मचा था, लेकिन वह आलोचना बेदी को मेरे नजदीक ले आयी थी और उसने हमे एक अभिन्न रिश्ते मे बाँध दिया था, जो आज तक कायम है ।

आज 'फैज' बहुत मोटे और किंचित भद्दे लगते है, शराब की कसरत ने उनके शरीर को ढीला-ढाला बना दिया है, लेकिन मेरी आँखों में

१—अँधेरे २—बर्बर ३—इन्द्रजाल ४—बहुमूल्य रेशमी वस्त्र

आज भी उनकी वह छबि है, जो मैंने 'हलक़ा-ए-अरबाब ए-ज़ौक' की उस मीटिंग मे देखी थी। पतला-छरहरा तो नही, गठा हुआ दोहरा शरीर, लम्बी नाक, चौड़ा माथा, मुँह पर ढेर सारे मुहासे और निहायत खूबसूरत गहरे नीले रंग का कोट। चेहरे के मुहासों के बावजूद फ़ैज़ खुश-शक्ल लगते थे। उनके बराबर ही कुर्सी पर कीमती कपडों मे मलबूस एक निहायत खूबसूरत लडकी बैठी थी। वह गवर्नर की कौंसिल के किसी नवाब सदस्य की लडकी थी। वह शायद उनकी छात्रा थी अथवा महज़ उनकी फैन ! लाहौर मे उसकी खूबसूरती और बौद्धिकता के चरचे थे और फैज के साथ अक्सर उसका नाम लिया जाता था। उसका नाम तो मैं भूल गया हूँ, लेकिन उसकी सुन्दर सूरत और उसके कानो मे लटकते हुए सुनहरी आवेज़े आज भी मेरी आँखो मे कौंध रहे है। जब-जब मैंने फैज़ की उपर्युक्त कविता की ये दो पक्तियाँ सुनी या पढी हैं ;

लौट जाती है इधर को भी नज़र क्या कीजे।
अब भी दिलकश है तेरा हुस्न मगर क्या कीजै

मेरी आँखो मे वह मोहिनी मूरत और वे सुनहरी आवेज़े घूम गये है और फिर कविता की अन्तिम पक्तियाँ कानो मे गूँजती हैं :

और भी दुख हैं ज़माने मे मुहब्बत के सिवा
राहतें और भी है वस्ल की राहत के सिवा
मुझसे पहली-सी मुहब्बत मेरी महबूब न माँग

अजीब बात है, लेकिन प्रीतनगर में फैज़ की यह नज़्म पढ़ने के साथ ही या चन्द दिन बाद ही मैंने आधुनिक उर्दू काव्य के दूसरे महान शायर नु०मीम०राशिद की प्रसिद्ध कविता 'रक्स' पढ़ी (जो मुझे आज भी कण्ठस्थ है।)

ऐ मेरी हमरक्स[1] मुझ को थाम ले
ज़िन्दगी से भाग कर आया हूँ मैं
ग़म से लरज़ाँ[2] हूँ, कहीं ऐसा न हो

रक्स-गह के चोर दरवाज़े से आकर ज़िन्दगी
ढूंढ ले मुझको निशाँ पा ले मेरा
और जुर्म-ए-ऐश करते देख ले
ऐ मेरी हमरक्स मुझको थाम ले

और जैसे उन दिनो छपने वाली फ़ैज़ की नज़्में—'चन्द रोज़ और मे
जान, फकत चन्द ही रोज़, या 'मेरे हम दम मेरे दोस्त,' 'रकीब
'तनहाई,' 'सियासी लीडर के नाम' उर्दू पाठको को अभिभूत कर र
थी, उसी तरह राशिद की नज़्मे—'दरीचे के करीब,' 'खुदकुश
'शायर-ए-दरमादा,' 'शराबी,' 'पहली किरण' उर्दू पाठकों को बे
प्रभावित किये थी। मैं दोनों को पढता था और हालांकि दोनो की डिक
मे, विचारो मे, बात कहने के ढंग मे, भाषा और शब्द-विन्यास में ब
अन्तर था, मुझे वे दोनो शायर पसन्द थे।

तब मैं क्या जानता था कि एक साल बाद ही मैं न केवल आ
निक उर्दू काव्य के इन दो प्रवर्त्तक कवियों का साक्षात् करूँगा, ब
मुझे उनके निकट सम्पर्क मे रहने का और उनके कवि के अलावा उन
व्यक्ति को जानने का भी यथेष्ट अवसर मिलेगा।

०

बात यह हुई कि १९४१ में मैंने दूसरी शादी की और डेढ़-दो मा
बाद ही पत्नी को ही नहीं छोड़ा, प्रीतनगर की नौकरी भी छोड़ दी
उस वक्त जब मैंने उसके नैकट्य के भय से दूर बंगलौर में एक ट्यूश
ले ली थी, कृष्ण का एक पत्र मुझे मिला कि बंगलौर जाने से पहले
एक दिन को दिल्ली आऊँ और कौन जाने मुझे बंगलौर जाने की ज़हम
ही न उठानी पडे। मैं दिल्ली गया। कृष्ण ने मुझे दूसरे ही दिन 'ऑ
इंडिया रेडियो' के दिल्ली केन्द्र में हिन्दी सलाहकार और नाटकका
के नाते डेढ़ सौ रुपया महीना पर मुलाज़िम रखा दिया। यही उ
दिनो प्रोग्राम असिस्टेण्टों का वेतन था और मैं 'ऑल इण्डिया रेडियो

१—साथ नाचने वाली, २—कांप रहा हूँ

का मुलाज़िम हो गया ।

प्रीतनगर की नौकरी के नोटिस-पीरियड का एक महीना बीतते ही मैं दिल्ली पहुँचा । कृष्ण के साथ भार्गव लेन तीस हज़ारी मे ठहरा । सात दिन बाद कृष्ण ने मुझे अपने करीब ही एक क्वार्टर ले दिया और मेरी दूसरी पत्नी वहाँ न आ जाय, इस भय से उसी वर्ष सितम्बर में मैंने कौशल्या से तीसरी शादी कर ली । चूँकि उस शादी के बाद कुछ पडोसी तंग करने लगे थे, मैं क्वार्टर बदल कर कृष्ण के क्वार्टर वाली पक्ति मे आ गया । कृष्ण ५. नम्बर के क्वार्टर मे रहता था, मैं ३.नम्बर में आया । एक क्वार्टर छोड कर राशिद १. नम्बर के क्वार्टर में रहते थे । वे उन दिनो आकाशवाणी के वार्ता विभाग के इंचार्ज थे । हिन्दी सलाहकार के नाते मेरा ज्यादा वास्ता कृष्ण और राशिद से ही पडता था । चूँकि मैंने हिन्दी के बहुत से नये वार्ताकार आकाशवाणी दिल्ली पर इण्ट्रोड्यूस किये थे, इसलिए राशिद से सम्पर्क होना अनिवार्य था । कृष्ण ड्रामा का इचार्ज था और जब-जब मैने नाटक लिखे, उसने प्रस्तुत किये । कृष्ण के साथ रोज की बैठकी होती और एक आत्मीय सम्बन्ध था । राशिद गम्भीर प्रकृति के, किंचित् स्नॉब व्यक्ति थे, उनसे औपचारिक सम्बन्ध था ।

वही राशिद के यहाँ पहली बार फैज़ से मुलाकात हुई । एक दिन कृष्ण ने बताया कि फैज़ आये हुए हैं, राशिद के यहाँ ठहरे हैं और डॉक्टर 'तासीर' की अंग्रेज साली से उनके विवाह की बात चल रही है । मुझे याद है मैं एक सुबह उनसे मिलने गया था । क्या बातें हुईं, याद नहीं, मुलाकात की याद है ।

कुछ ही दिन बाद सुना फ़ैज़ सेना के पब्लिक रिलेशन्ज़ विभाग में अफसर हो गये हैं और उन्होंने प्रोफेसर तासीर की साली एलिस से शादी कर ली है । वास्तव में दूसरे महायुद्ध में हिटलर द्वारा रूस पर हमला किये जाने के बाद साम्यवादी पार्टी ने उस युद्ध को जनता का युद्ध घोषित कर दिया था । इसी मुद्दे पर कांग्रेस का साम्यवादी दल उससे अलग भी हो गया था और प्रगतिशील लेखक और कवि सेना में

मुलाज़िम हो गये थे। तासीर और फ़ैज़ भी उन्हीं मे से थे।

०

फ़ैज़ के काव्य मे रोमान और यथार्थ का कुछ अजीब-सा सम्मिश्रण है। उनकी कुछ कविताओ मे, जिनमे 'सियासी लीडर के नाम' विशेष उल्लेखनीय है, तीखा व्यंग्य भी है, लेकिन ढूंढे से भी कही हास्य का निशान उनके काव्य में नही मिलता। तब किसको यह सुन कर विश्वास आयेगा कि उस ज़माने मे उन्होने एक नितान्त अगम्भीर और एब्सर्ड कविता लिखी थी, जिसे सुन कर सब बेइख्तियार हँस पड़े थे।

प्रेरणा बड़े बुखारी साहब की थी या तासीर की या वह राशिद ही की ब्रेन-वेव थी, मैं कह नही सकता, लेकिन तय हुआ कि 'ऑल इडिया रेडियो' के वेराइटी प्रोग्राम में एक 'सौती मुशायरा' ब्रॉडकास्ट किया जाय। 'सौती-मुशायरे' का मतलब यह था कि कवि उसमें जो कविताएँ पढे, उनमे आवाज़ और लहजा तो कवि का अपना-अपना हो, पर उनके किसी अक्षर-समूह का कोई अर्थ न हो। राशिद ने मुझे भी कविता लिखने के लिए कहा, फ़ैज़ को भी, चिराग़ हसन हसरत और शायद अख्तरुलईमान को भी। मैंने निराला की प्रसिद्ध कविता 'तुम और मैं' की पैरोडी की, जो बाद में 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' अबोहर के कवि-सम्मेलन मे बहुत पसन्द की गयी और स्वयं निराला ने उसकी दाद दी। फ़ैज़ ने भी अपने रग में कविता लिखी, जिसमे फ़ैज़ के काव्य की रोमानियत और प्रगतिशीलता दोनो रंग झलकते थे, लेकिन कविता का कोई अर्थ नही था। ज़ाहिर है ब्रॉडकास्ट होने के बाद यारों ने उसे फ़ैज़ से बार-बार सुना, खूब ठहाके लगाये और खूब दाद दी।

फ़ैज़ उन दिनो प्राय रेडियो स्टेशन आते थे। हफ़्ते-पखवाड़े उनकी कोई वार्ता या कविता ब्रॉडकास्ट होती थी। उन दिनों प्रायः उनसे मुलाकात होती। बातें करने का अवसर मिलता। उनमें और मुझमें जो दूरी थी, वह बहुत कम हो गयी। तभी कुछ महीने बाद मैं उनसे कह सका कि मेरी पत्नी ने सेना मे नौकरी कर ली है। कर सकें तो आप उसे अपने दफ़्तर मे क्लर्क-सेक्रेटरी के तौर पर ले लें और वे मान गये।

०

बात यह है कि कौशल्या मुझसे शादी करने से पहले रनाला खुर्द मे हैडमिस्ट्रेस थी। शादी के बाद वह नौकरी तो छोड आयी थी, लेकिन मेरे दफ्तर जाने से बाद सारा दिन बोर होना उसे पसन्द न था। जमीदार नाना की नातिन। सम्भ्रान्त और धनी परिवार से आयी थी। रहन-सहन का स्तर उसका ऊँचा था। यद्यपि मै अपने वेतन और रहन-सहन के सीधे-सादे ढग से संतुष्ट था, पर वह नही थी। नयी-नयी शादी थी। मैं सख्ती से कुछ न कहता। इशारो की बात पर वह ध्यान न देती। उसने दिल्ली के इन्द्रप्रस्थ स्कूल मे अध्यापिका की नौकरी ले ली, लेकिन एक बार हैडमिस्ट्रेस की कुर्सी पर बैठने के बाद अध्यापिकी करना कठिन था। चन्द ही दिनो मे हेडमिस्ट्रेस से उसका झगड़ा हो गया और वह नौकरी छोड़ आयी। उन दिनो मिलिट्री का एक नारी-विंग, जिसे डब्लू० ए० सी० आई (वैकाई) कहते थे, शुरू हुआ। एक शाम जाकर वह उसमे भर्ती हो आयी। मुझे अच्छा नही लगा। मैंने उसे समझाया कि वैकाइयो को लोग अच्छी निगाह से नही देखते और कहते हैं कि इस विंग को सैनिक अफ़सरो के मनोरंजनार्थ कायम किया गया है, लेकिन कौशल्या बहुत जिद्दी औरत है। उसका ख़याल था कि कमजोर औरतें ही उनका शिकार होती होंगी और यदि नारी का मन मजबूत है तो उसे कोई तकलीफ़ नहीं पहुँच सकती। मैं ख़ासा परेशान हो गया। तब मैंने फ़ैज से जाकर कहा। उन्होंने हामी भर दी और उसे अपने दफ़्तर में सेक्रेट्री रख लिया।

काम तो वहाँ कुछ वैसा था नहीं, कौशल्या ने उर्दू टाइप सीख लिया था और दफ़्तर में बैठे मेरे मसौदे टाइप करती रहती थी, दो-एक ख़त उनके भी कर देती थी। कौशल्या उन दिनों एक संगीतज्ञ से 'ग़ालिब' की गजलें गाना सीखती थी, ग़ालिब बहुत मुश्किल कवि हैं। कही-कही दिक्कत होती तो मैं कहता कि फ़ैज से समझ लो। फ़ैज उसे ग़ज़ल समझा देते, वह भी फ़ैज को थोड़ी-बहुत हिन्दी सिखाती। जैसा कि मैंने उल्लेख किया, हम हफ़्ते-पखवाड़े फ़ैज के यहाँ चले जाते और

रात वहीं रहते। कभी-कभार 'फैज़' भी हमारे यहाँ आ जाते और रात वहीं गुज़ारते।

इन दो-तीन वर्षों मे मैंने फ़ैज़ को शायर की हैसियत से नहीं, व्यक्ति की हैसियत से बहुत निकट से देखा और उनके उन गुणों को जाना जिनके कारण वे दोस्त-मित्रों मे इतने लोकप्रिय हैं।

०

इससे पहले कि मैं फैज़ के बारे मे कुछ लिखूं, मैं एलिस भाभी के बारे मे दो शब्द कहना चाहूँगा। एलिस पतली-छरहरी सरा-सा लम्बी, तीखे नाक-नक्शे वाली महिला हैं। बहुत ही मीठे, शिष्ट और उदार स्वभाव वाली। उनके साथ बिल्कुल आत्मीयता का एहसास होता था। बहुत-सी घटनाओ मे से मुझे दो घटनाओ की विशेषकर याद आती है।

एक शाम हम खाने पर बैठे थे। बहुत बड़े डाइनिंग रूम में, बहुत बडी खाने की मेज़! प्याले प्लेटें, छुरियाँ काँटे। जैसे अंग्रेज़ सम्भ्रान्त परिवारो मे खाना लगता है, खानसामे पकाते हैं, बैरे लाते हैं—ऐसा ही एलिस के यहाँ था। फैज़ बिल्कुल अंग्रेज़ों की तरह छुरी-काँटे से गोश्त खाते थे। एक शाम मुर्ग़ा पका था। फैज़ छुरी-काँटे की मदद से गोश्त काट कर खा रहे थे। मुझे तो वैसे खाना आता नहीं था, लेकिन उनकी देखा-देखी मैंने भी उसी तरह खाने की कोशिश की। मैंने काँटा फँसाया और छुरी से काटना ही चाहता था कि मुर्गे की पूरी टाँग छिटक कर नीचे ग़ालीचे पर जा गिरी। मैं एकदम घबरा गया—विशेषकर इसलिए भी कि कौशल्या उस सम्भ्रान्त औपचारिकता मे एलिस से किसी तरह कम नहीं थी और इसलिए दोनों में बहुत पटती थी। मैंने घबरा कर एलिस की तरफ देखा। मुस्कराते हुए उन्होंने कहा, "डोण्ट वरी, फैज़ आलसो डज़ इट[1]।' और मैं आश्वस्त हो गया।

....फिर एक बार हमारा प्रोग्राम उनके यहाँ जाने का था। फैज़ का बगला लोधी कालोनी में था और हम तीस हज़ारी दिल्ली में लगभग ११ मील की दूरी पर रहते थे। मैं साइकिल पर कौशल्या को

१. चिन्ता न करो, फैज़ से भी ऐसा हो जाता है।

बिठा कर ले जाता था। पहले-पहल तो वह बहुत तिनतिनाई थी, लेकिन फिर अभ्यस्त हो गयी थी। चलने से पहले उसने कहा, "आप फ़ैज़ को फ़ोन कर दीजिए कि हम आ रहे हैं।"

बराबर के ही क्वार्टर मे मोतीराम पत्रकार रहते थे। उनके यहाँ फोन था। मैं वहाँ गया। फोन करने मे मुझे हमेशा बहुत घबराहट होती है, लेकिन कौशल्या बिना फोन पर इत्तला दिये और अप्वायण्टमेण्ट लिये जाना अशिष्टता समझती है। सो मैं गया और मैने फ़ोन किया और कहा कि फ़ैज़ साहब हम आ रहे हैं। उन्होने उत्तर मे कुछ कहा जो मुझे ठीक से सुनायी नही दिया। मैंने उनसे कहा कि फ़ैज़ साहब आपकी बात मुझे सुनायी नही देती। मैंने आपको इसीलिए फ़ोन किया कि हम आ रहे है और बारह-एक बजे तक पहुँच जायेंगे और खाना वही खायेंगे। उन्होने फिर कुछ कहा जो फिर मेरी समझ मे नही आया (बाद में मैंने उनके दफ़्तर मे देखा कि वे फ़ोन का चोंगा मुँह से जरा परे रख कर बात करते हैं। यूँ भी वे बहुत धीरे बात करने के आदी हैं, इसलिए वे क्या कह रहे हैं, मुझे सुनायी नही दिया) मैंने फिर वही बात दोहरा दी और फोन बन्द करके चला आया।

जब हम साइकिल पर ग्यारह मील की मंजिल तय करके लगभग एक बजे उनके बंगले पर पहुँचे तो देखा फ़ैज़ और एलिस दोनो अपने बराण्डे मे कही जाने के लिए तैयार खडे हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं। फ़ैज़ ने कहा, 'अश्क साहब, हमारा लंच तो आज मजीद मलिक के है। हम दोनो आधे घण्टे से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मैंने आपको फ़ोन पर दो बार कहा, लेकिन आपको मेरी बात ही समझ में नही आयी।'

कौशल्या का चेहरा एकदम तन गया। अपने इस उजड्ड और गँवार पति पर उसे कितना क्रोध आया होगा, जो लोग उसे निकट से जानते है, वे कल्पना कर सकते हैं। अब तो वह आदी हो गयी है और बदल भी गयी है, लेकिन वह शादी का नया-नया ज़माना था और कौशल्या तब निहायत औपचारिक और शिष्टाचार में विश्वास रखने वाली महिला थी। वह बेहद एम्बेरेस हुई। मेरी जो हालत हुई होगी,

उसकी कल्पना तो आप कर ही सकते है ।

तभी एलिस भाभी ने मुस्कराते हुए कहा, "अच्छा हुआ कौशल्य तुम आ गयी । सलमा की प्राब्लम थी, उसे मैं घर छोड़े जा रही हूँ तुम उसका खयाल रखना । लंच तैयार है, स्वयं लेना और अश्क को भी करा देना । हम जल्दी ही आ जायेंगे ।"

और यूँ हमको एकदम आश्वस्त करके एलिस फ़ैज़ के साथ चली गयी ।

०

जैसे बेदी सात दिनो के लिए एक बार इलाहाबाद आये और मुझे और कौशल्या को न सिर्फ़ पान खाने की आदत डलवा गये, बल्कि तम्बाकू खाना भी सिखा गये, उसी तरह फ़ैज़ के सम्पर्क में मुझे एक ऐसी आदत पड़ गयी जो आज तक मेरे साथ है । फ़ैज़ सुबह बेड टी लेते थे । कौशल्या के सम्पर्क मे मैं भी बेड टी लेने लगा था । लेकिन मैं बैड टी के साथ कुछ नही लेता था, जब कि फ़ैज़ हमेशा दो बिस्कुट लेते थे । जब-जब हम वीक एण्ड वहाँ गुज़ारते थे और उनका बैरा हमारे कमरे मे बैड टी लाता था तो साथ मे बिस्कुट भी लाता था । उन दो-ढाई वर्षों में मुझे भी आदत पड गयी । उसके बाद मुझे याद नहीं कि मैंने कभी बिस्कुटों के बिना बैड टी ली हो ।

●

फ़ैज़ के किरदार की एक और खूबी है । उन्हीं दिनों मैंने देखी । आम आदमी खुशी के मौके को छुपा नहीं पाता, उसके चेहरे पर उसका आभास आ जाता है । लेकिन मैं समझता हूँ, फ़ैज़ के किरदार में खुशी और ग़म को समान रूप से लेने की सहज प्रवृत्ति है । उनके धैर्य-धरे मरंजाँमरंज स्वभाव के साथ-साथ कुछ अजीब तरह की निरपेक्षता भी मैंने उनमें पायी है । मैं बहुत जल्दी उद्वेलित हो जाता हूँ । खुशी और ग़म (यह ठीक है कि बहुत कोशिश से मैंने उन्हें निरपेक्ष भाव से लेना सीख लिया है) मुझे प्रभावित करते हैं । मेरे चेहरे पर उनका आभास आ जाता है, लेकिन फ़ैज़ के साथ ऐसा नहीं है । और इस संदर्भ में एक घटना की याद मुझे प्रायः आयी है ।

शाम का वक़्त था। मैं और कौशल्या फ़ैज़ के यहाँ गये हुए थे या शायद मैं दफ़्तर से सीधा वहाँ पहुँच गया था और फ़ैज़ और कौशल्या आने वाले थे। जैसा कि मैंने कहा, लोधी कॉलोनी वाला बंगला बहुत बड़ा था। बहुत बड़ा लॉन, बहुत खुला बराण्डा, बहुत बड़ा हाल। बेंत का बना एक लम्बा कौच बराण्डे मे पड़ा था, जिस पर फैज़ दफ़्तर से आकर अधलेटे हो बैठते थे।

कुछ ही देर मेरे पहुँचने के बाद फैज़ आ गये और उसी कौच पर टाँगें फैला कर बैठ गये। चाय आयी, हम लोगो ने पी। फिर फैज़ ने उठते हुए एलिस भाभी से कहा, "एलिस ज़रा हमारे साथ कनाट प्लेस तक चलो।"

एलिस ने पूछा कि क्या मामला है ?

तब फ़ैज़ ने कहा कि एक स्टार खरीदना है।

और यूँ उन्होने कैप्टन से अपने मेजर होने की सूचना दी। एलिस बहुत खुश हुई और फ़ैज़ के साथ चली गयी।

मैं बहुत देर तक इस घटना से बारे मे सोचता रहा और मैं मान लेता हूँ कि फ़ैज़ के स्वभाव का यह गुण मुझे बहुत अच्छा लगा। लेकिन यह भी जानता हूँ कि मैं चाहने पर भी उसे अपना नहीं बना सकता। सुख-दुख, हर्ष-विषाद कोई बात भी मैं इतनी देर तक अपनी पत्नी से छिपा नही सकता।

●

उन्हीं दिनो राशिद के साथ-साथ फ़ैज़ के काव्य का भी मैंने अध्ययन किया। उनको लिखते हुए भी देखा। दोनो से उनकी रचनाएँ सुनीं और हालांकि दोनो की शैली और विचारों में ज़मीन-आसमान का फ़र्क़ है, लेकिन दोनों के काव्य के लिए मेरे मन मे एक-जैसा प्यार है। जहाँ तक व्यक्ति का सवाल है, मैंने फ़ैज़ को राशिद से बेहतर व्यक्ति पाया है और शायद उनकी लोकप्रियता का एक कारण यह भी है।

उपर्युक्त दो कविताओं के अलावा फ़ैज़ की जो कविता मुझे सर्वाधिक पसन्द है वह केवल नौ पंक्तियों की एक छोटी-सी कविता है और

मैं जानता हूँ कि जैसे किसी ज़माने मे महादेवी का गीत 'आज क्यो तेरी वीणा मौन' मुझे बहुत अच्छा लगता था और मैं अपनी उदास घड़ियों मे उसे गुनगुनाया करता था, उसी तरह फ़ैज़ की वह कविता 'तन्हाई' मुझे उतनी ही अच्छी लगती है, कण्ठस्थ है और आज भी कभी-कभी मैं उसे गुनगुना लेता हूँ।

फिर कोई आया दिल-ए-ज़ार,[1] नहीं कोई नहीं
राह-रौ[2] होगा, कहीं और चला जायेगा
ढल गयी रात बिखरने लगा तारों का गुबार[3]
लड़खड़ाने लगे ऐवानो[4] मे ख़्वाबीदा चिराग़[5]
सो गयी रास्ता तक-तक के हर इक राहगुज़ार[6]
अजनबी खाक ने धुँधला दिये कदमों के सुराग़[7]
गुल करो शम'एँ, बढ़ा दो मय-ो-मीना ो-अयाग़[8]
अपने बेख़्वाब[9] किवाड़ो को मुकफ़्फ़ल[10] कर लो
अब यहाँ कोई नहीं, कोई नहीं आयेगा।

फ़ैज़ की शायरी का यह ख़ासा है कि उनकी रोमानी शायरी भी राजनीति का रंग लिये रहती है। उनके शब्द हमेशा दोअर्थी होते हैं और कोई चाहे तो नितान्त रोमानी शे'रो के राजनीतिक अर्थ कर सकता है—यही कविता, जो जाने फ़ैज़ ने एकाकीपन के किस मूड मे लिखी, अपने मे कई अर्थ छिपाये हैं। मैंने लोगो को इसकी व्याख्या यूँ करते सुना है कि शायर मायूस है, नेताओं से और देश की नियति से और उसे लगता है कि अब यहाँ कुछ नही होगा और कोई ऐसा नेता नही आयेगा जो हमें आज़ाद करा दे।

०

१९७७ में मैं बम्बई गया, होंटो के कैन्सर का इलाज कराने। वहाँ बेदी के घर तीन महीना रहा। रोज शाम को बेदी थके-हारे आते

---

१. टूटा हुआ दिल २. मुसाफ़िर ३ गर्द ४. महलों, कमरों ५. नींद के माते दिये ६. रास्ता ७. निशान ८. शराब, सुराही और प्याले ९. उनीदे १०. ताले बन्द कर लो।

थे। पत्नी उनकी दिवंगत हो चुकी थी। अपनी अन्तिम फिल्म 'आँखिन देखी की नायिका के इश्क मे गिरफ़्तार थे। दो-तीन पैग पीने और खाना खाने के बाद वे मलिका पुखराज द्वारा गायी गयी फ़ैज़ की एक गज़ल का रेकार्ड लगा देते थे। तीन महीनो मे कोई ऐसी शाम नही गयी, जब वे घर मे हो और उन्होने वह रेकार्ड न लगाया हो और शे'र पर सिर धुनते हुए गाने वाली को मीठी-मीठी दाद-भरी प्यारी-प्यारी गालियाँ न दी हो। गज़ल के शे'र :

कब ठहरेगा दर्द ऐ दिल कब रात बसर होगी
कहते थे वो आयेंगे, कहते है सहर[1] होगी
कब तक तेरी राह देखें ऐ कामत-ए-जानानां[2]
कब हश्र[3] मुअईअन[4] है तुझको तो खबर होगी

और मैंने दोस्तो को इन शे'रो के सियासी और इन्कलाबी अर्थ करते हुए बेतरह सिर धुनते देखा है।

•

१. सुबह २. प्रेयसी का कद ३. कयामत ४. मुकरर, नियत।

प्रेमचन्द पुनर्मूल्यांकन के प्रश्

●

प्रेमचन्द अपने युग के सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा कथाकार थे। उस यु
के सन्दर्भ में अपने व्यक्तिगत अनुभवों को ध्यान में रख
हुए आप उपर्युक्त कथन से कहाँ तक सहमत हैं ?

साहित्य मे आरम्भ से दो धाराएँ चली आ रही हैं। एक धारा साहित्य क
सत्य और शिव से जोड़ती रही है, और दूसरी केवल सुन्दर से। साहि
का समष्टिगत अथवा व्यष्टिगत उद्देश्य हो या न हो, लेकिन कला
रूप में रचना सुन्दर हो, दूसरी धारावालों को बस इतना ही अभी
रहा है।

अपने समय मे, प्रेमचन्द साहित्य की सोद्देश्यता में विश्वास रख
थे, जबकि उनके ही समकालीन प्रसाद उसके सौन्दर्य में। उन दो
की एक-एक कहानी को लेकर मैं उस अन्तर को स्पष्ट करने का प्रय
करूँगा, जो दोनों धाराओं में था (और आज भी है।)

प्रसाद की कहानी 'आकाशदीप' लीजिए। इसमें एक समुद्री लुटे
किसी व्यवसायी का जहाज लूट लेता है। मालिक की हत्या कर दे
है। और उसकी लड़की को भगाकर एक निर्जन द्वीप में ले आता है
वह लड़की उस लुटेरे से प्रेम करने लगती है और जब वह अप
मुहिमों पर निकलता है तो वह उसकी प्रतीक्षा में बैठी उसको अपनी य
दिलाने अथवा राह दिखाने के लिए आकाशदीप जलाती है।

प्रेमचन्द की प्रासंगिता के संदर्भ में ये प्रश्न श्री धर्मेन्द्र गुप्त ने भे
थे, जिनके लिखित उत्तर दिये गये थे।

अब इस कहानी मे सिवा प्रेम की परम्परागत भावना के, जिसको कवि गालिब ने ऐसी आग की उपमा दी है, जो न लगाये लगती है, न बुझाये बुझती है, अन्य कोई समाजगत अथवा व्यक्तिगत उद्देश्य परिलक्षित नही होता। यूँ कहानी रोमानी, सुन्दर और कला की दृष्टि से निर्दोष है, भले ही काल्पनिक लगती हो और यथार्थता का सस्पर्श उसे नही मिला दीखता। मैं नही जानता, अपने पिता को प्यार करने वाली लडकी वास्तविक जीवन मे उसके हत्यारे से प्रेम कर सकती है या नही ? यथार्थ के धरातल पर तो लगता है कि नफरत ही ऐसे मे सहज है। लेकिन पुराने ज़माने मे जब पुरुष मे वीरता ही एक-मात्र टकसाली गुण समझा जाता था, औरतें भगायी जाती थी तो शायद प्यार भी हो जाता होगा। हाँलाकि मनोवैज्ञानिक स्तर पर मुझे लगता है कि उस प्यार के नीचे कही गहरे मे नास्टेलिजया और आतताई के प्रति नफरत भी ज़रूर रहती होगी। हाँ उस नफ़रत को जहाँगीर जैसा सम्राट अपना सब कुछ सौप कर जीत सकता है और कोई दूसरा अपने शारीरिक सौन्दर्य और वहशी प्यार से। लेकिन प्रसाद की कहानी मे इन मनोवैज्ञानिक तत्वो का कोई स्पर्श नही है। वह केवल कला का एक सुन्दर नमूना है और पढ़ने पर अच्छी लगती है। वह महज़ सुन्दर है। सत्य और शिव हो या ना हो। आधुनिक कथाकारो मे मण्टो की कहानी 'बू' इसी कोटि में आती है या अज्ञेय की हीलीबोन की बत्तखें।'

अब एक कहानी प्रेमचन्द की लीजिए। उनकी अनेक कहानियो मे से, जो आज से तीस-चालीस वर्ष पहले मैंने पढी थी, चार पाँच मुझे याद रह गयी हैं और उनमे एक कहानी है—नशा। उस कहानी मे एक निम्न मध्यवर्गीय युवक है जो खादी पहनता है, आदर्श की बहुत ऊँची बाते करता है और अपने धनी जमीदार सहपाठी को शोषक और अत्याचारी बताता है। वह एक बार छुट्टियो मे कुछ दिनो के लिए उसके साथ उसके गाँव उसकी ज़मीदारी पर मेहमान बन कर जाता है। वहाँ नौकर-चाकर हैं, सुख-सुविधा के सब सामान हैं और कोई काम स्वयं नही करना पडता। आवाज देने पर नौकर भागे आते हैं। वह काफ़ी दिन

वहाँ रहता है और उस माहौल मे रम जाता है। वापसी मे दोनो मित्र रेल की यात्रा करते है। डिब्बे मे बहुत भीड है। जमीदार का लडका निहायत नार्मल ढंग से व्यवहार करता है, लेकिन चूंकि वह युवक जमीदारी के उस माहौल मे अपने आपको भूल जाता है और सम्पन्नता का नशा उसके सिर चढ जाता है—वह एक ग़रीब यात्री को बहुत बुरी तरह डाँट देता है।

मैं सिर्फ यह कहना चाहता हूँ कि 'आकाशदीप' के मुकाबिले यह कहानी बेहतर है। बेहतर और गहरी, मनोवैज्ञानिक और यथार्थ। क्योकि सुन्दर के साथ इसमे सत्य और शिव के गुण भी जुडे है। मैं नहीं समझता कि प्रेमचन्द ने कोई भी कहानी ऐसी लिखी होगी जो महज सुन्दर हो और जिसमे सत्य और शिव के गुण न हों। इसलिए प्रसाद के मुकाबिले मे वे अपने युग के द्रष्टा थे, क्योकि उन्होंने युग की समस्याओं को जिस यथार्थता से चित्रित किया, वैसा प्रसाद ने नहीं किया।

वह युग स्वतन्त्रता-आन्दोलन का युग था और प्रेमचन्द उसके प्रमुख वाहक थे। उन्होने अपनी कहानियो में न केवल युग के सत्य को रखा, उसकी समस्याओ को रखा, बल्कि यथाशक्य उनका समाधान भी प्रस्तुत किया।

उनका पहला कहानी-संग्रह 'सोज़-ए-वतन' और उसकी कहानियाँ कितनी ही अनगढ क्यो न हो—प्रेमचन्द के युगानुरूप, सोद्देश्य दृष्टि-कोण को प्रतिबिम्बित करती है। तब यदि कोई उनको अपने युग का द्रष्टा कहता है तो ग़लत नही कहता।

प्रेमचन्द की परम्परा की बहुत दुहाई दी जाती रही है। आप किस रूप में इसकी व्याख्या करते हैं। क्या वास्तव में प्रेमचन्द की कोई परम्परा है? यदि है तो आज के सन्दर्भ में वह क्या है?

इसी सोद्देश्य दृष्टिकोण मे प्रेमचन्द की परम्परा की खोज की जा सकती है। जो लोग शिल्प की दृष्टि से खोज करते है, वे उस परम्परा को नही जान सकते। हिन्दी में आधुनिक कहानी न केवल प्रेमचन्द

से शुरू हुई, बल्कि उनके द्वारा ही विकसित होकर अपने परिपक्व रूप तक पहुँची। जाहिर है कि आज के नये लेखक की पहली कहानी प्रेमचन्द के 'सोज-ए-वतन' की कहानियो से निश्चय ही बेहतर होगी। गत पचास वर्षों मे कहानी का शिल्प बहुत बदल गया है और बदल रहा है। कहूँ कि आगे भी बदलेगा। लेकिन साहित्य के उपर्युक्त दोनों दृष्टिकोण हमेशा रहेंगे। आज जो लेखक समाज अथवा व्यक्ति की यथार्थताओं को इस उद्देश्य से अपनी रचना मे रखता है कि उसके माध्यम से हम समाज अथवा व्यक्ति को जान सकें (जानेंगे तभी बेहतर बनायेंगे) उसे मैं प्रेमचन्द की परम्परा का कथाकार मानता हूँ, भले ही बाह्य रूप से उसकी कहानी मे प्रेमचन्द का कही भी कुछ दिखायी न दे। जो लोग कहते है कि प्रेमचन्द की कोई परम्परा नही है, वे शायद आज के साहित्य का अध्ययन ध्यान से नही करते। मैं पुराने और बीच की पीढी के कथाकारों की बात छोड़ भी दूँ जिनकी कहानियो मे प्रेमचन्द की परम्परा को स्पष्टत रेखांकित किया जा सकता है) तो आज के नये कथाकारो में भी मुझे किसी-न-किसी की कोई कहानी प्रेमचन्द की परम्परा का ध्यान दिला जाती है।

प्रेमचन्द पर पुरानेपन का आरोप लगाया जाने लगा है। आज उनकी जन्म शताब्दी वर्ष के अवसर पर आप उन्हें किस तरह याद करते हैं?

जो लोग प्रेमचन्द पर पुरानेपन का आरोप लगाते हैं, वे शायद यह कहना चाहते हैं कि प्रेमचन्द आज प्रासगिक नही रहे। व्यक्तिगत रूप से मैं इससे सहमत नही हूँ। संसार का बडे-से-बडा लेखक सारी जिन्दगी खटते रहने के बावजूद आठ-दस श्रेष्ठ कहानियो से ज्यादा नही लिख सका और वे कहानियाँ ऐसी हैं जो समय को पार कर हम तक पहुँची है और न केवल आज प्रासगिक हैं, वरन् आगे भी रहेंगी। निश्यच ही प्रेमचन्द के यहाँ आठ-दस ऐसी कहानियाँ हैं, जो हमेशा प्रासगिक रहेगी और उनके माध्यम से प्रेमचन्द कभी पुराने नहीं पडेंगे।

प्रेमचन्द की दृष्टि क्या थी ? एक आदर्श विचारक, गांधीवादी चिन्तक अथवा साम्यवादी ? इनमें से आप उन्हें क्या मानते हैं ?

प्रेमचन्द की दृष्टि, यदि मैं उन्हें ठीक से समझ सका हूँ तो, मानवतावादी थी। यह ठीक है कि वे गाधीवाद से अत्यधिक प्रभावित थे और जहाँ तक उनके उपन्यासों का सम्बन्ध है, वे गांधी जी की प्रेरणा से चलने वाले आन्दोलनो के साथ-साथ चलते हैं और उस लिहाज़ से उन्हें गाधीवादी चिन्तक भी कहा जा सकता हैं। लेकिन उनके उत्कृष्ट साहित्य मे (वे चाहें उपन्यास हो या कहानियाँ) मानवतावादी दृष्टि ही प्रमुखत परिलक्षित होती है। छोटे उपन्यासो मे 'निर्मला' और बड़ों मे 'गोदान' और कहानियों मे 'कफ़न,' 'नशा,' 'बड़े भाई साहब,' 'मनोवृति,' 'पूस की रात,' मेरे इस कथन का प्रमाण हैं।

प्रेमचन्द को प्रगतिवादी भी बड़ा लेखक मानता है और वह भी जो अपने को किसी वाद से नहीं जोड़ता। प्रेमचन्द को लेकर यह विरोधाभास क्यों है ? साहित्य अगर सबको सन्तुष्ट करता है तो उसका वास्तविक मूल्य आपकी दृष्टि में क्या है ?

चूँकि प्रेमचन्द ने प्रभूत लिखा है और हमेशा युग के साथ रहे हैं, इसलिए युग की विभिन्न समस्याओ का प्रतिबिम्ब उनके साहित्य मे मिलता है। इसीलिए प्रगतिवादी भी उन्हें अपना मानते हैं और प्रगतिवाद के विरोधी भी। विरोधाभास इसमे नहीं है। जैसा कि मैंने कहा प्रेमचन्द की दृष्टि मानवतावादी थी और चूँकि प्रगतिवादी और प्रगतिविरोधी भी अन्ततः होते तो मानव ही हैं, इसलिए दोनों को प्रेमचन्द में कुछ-न-कुछ अपने अनुकूल मिल जाता है। जो रचना प्रबुद्ध और अप्रबुद्ध, असाधारण और सामान्य—सभी तरह के पाठकों को रुचती है, वही वास्तव में महान होती है। इसीलिए ऐसी रचनाएँ महान-से-महान लेखक के यहाँ गिनती की होती हैं। लेकिन यही सार्वजनीन रचनाएँ लेखक को महान और हर युग के लिए प्रासंगिक बनाती हैं और अमूल्य होती है।

प्रेमचन्द का लेखन प्रतिबद्ध लेखन का आदर्श लेखन कहा जाता है। क्या आप इससे सहमत हैं? यदि हैं तो उनकी प्रतिबद्धता प्रथमत: किस के प्रति थी।

प्रतिबद्धता कई तरह की होती है। इस प्रश्न मे यह नही बताया गया कि प्रेमचन्द के लेखन को किस प्रकार का प्रतिबद्ध लेखन कहा जाता है। प्रतिबद्ध तो अपने आपको जैनेन्द्र और अज्ञेय भी कहेगे और हैं भी, लेकिन उनकी प्रतिबद्धता तो प्रेमचन्द की प्रतिबद्धता नही है, ऐसा मैं मानता हूँ।

मेरे ख़याल में प्रेमचन्द की प्रतिबद्धता 'समाजगत और सोद्देश्य लेखन' के प्रति थी। समाज की कुरीतियाँ दूर हो, इन्सान एक बेहतर जीवन जी सके—इसके प्रति थी।

प्रेमचन्द के साहित्य की गहनता, विस्तार और विविधता उनके परवर्ती लेखन में क्रमश लुप्त हुई है। क्या आप इससे सहमत हैं।

नही, मैं इस स्थापना से सहमत नही हूँ। प्रेमचन्द के परवर्ती साहित्य में गहनता की कमी नही है। न उपन्यासो मे, न कहानियों में। विस्तार और विविधता तो इतनी है कि प्रेमचन्द के यहाँ भी शायद नहीं थी। यशपाल, जैनेन्द्र, नागर, विष्णुप्रभाकर, नगार्जुन, भारती, रेणु, राकेश, यादव, भीष्म साहनी, अमरकात नथा साठोत्तरी पीढी के रचनाकारों का तमाम साहित्य—उपन्यास, कहानी, नाटक, एकाकी, सामने रख लें तो हम पायेंगे कि प्रेमचन्द ने साहित्य को जो दिया, उनके परवर्तियो ने, उसे आगे ही बढ़ाया—वस्तु और रूपाकार दोनों ही दृष्टियो से—उसे गहराई और व्यापकता दी और साहित्य जैसे दशों दिशाओं को छूता हुआ बढ़ चला। बात क्रमश: ह्रास की जरूर है, क्योंकि प्रेमचन्द के निकटतम परवर्तियो के मुकाबले में जिनका नाम मैंने लिया, बाद के लोगों में क्रमश: इसका किंचित ह्रास जरूर दिखायी देता है। मँझली पीढ़ी मे रेणु को छोड दें तो उतना सशक्त नाम सामने नहीं आता। भारती, राकेश, यादव, कमलेश्वर, शिवप्रसाद सिंह, अमरकांत और उनके समाकालीन मँझली पीढ़ी के लेखक एक हद

तक जाकर चुपा गये। उनके बाद आने वालो की गति उनसे भिन्न नही हुई। लेकिन मैं नही समझता कि साहित्य को इतनी छोटी अवधियो मे परखना चाहिए। आज इतना ज्यादा लेखन हो रहा है—गहरा चाहे उतना न हो, लेकिन व्यापक और विविध तो है ही—कि अच्छी रचनाएँ कई बार चर्चित नही हो पाती। वह जमाना और था, जब उच्चकोटि की साहित्यिक पत्रिकाएँ निकलती थीं, जिनमे एक उत्कृष्ट कहानी के छप जाने से रातों-रात लेखक प्रसिद्ध हो जाता था। आज व्यावसायिक पत्रो मे चूँकि बहुत कूडा भी छपता रहता है, इसलिए कई बार अच्छी कहानियाँ दब जाती हैं। लेकिन निश्चय ही इस वक्त भी रचनाकार रचनारत हैं। उनके सामने प्रेमचन्द से लेकर अब तक के साहित्यकारो का प्रभूत लेखन है और उनमे ऐसे डार्क हार्सेज (छिपे रुस्तम) जरूर होगे, जो कही अचीन्हें, अजाने, चुपचाप साधनारत है और कल आगे आकर चुनौती देते हुए उनके (प्रेमचन्द के) सामने अपने गहरे और विविध और व्यापक साहित्य के साथ आ खड़े होंगे।

प्रेमचन्द का कथा साहित्य आज भी लोकप्रिय है। लेकिन आज हिन्दी में लोकप्रिय लेखन को सस्ते मनोरंजन के रूप में लिया जाता है। एक सच्चाई यह भी है कि आज जो तथा-कथित आधुनिक लेखन सामने आ रहा है, वह बहुत सीमित पाठक-वर्ग में सिमट कर रह-सा गया है। इस संदर्भ में प्रेमचन्द की लोकप्रियता हमारे लिए किस प्रकार आदर्श है?

'लोकप्रिय' शब्द के साथ बहुत शुरू से यह प्रवाद जुडा चला आ रहा है कि जो चीज लोकप्रिय है, वह अपेक्षाकृत निकृष्ट है। मैंने पहले प्रश्न के उत्तर में ही प्रेमचन्द और प्रसाद के संदर्भ में कलावादी और सोद्देश्य परम्पराओं का उल्लेख किया था। प्रसाद के अनुयाइयो अथवा उनके समानान्तर सोचने-लिखने वालों ने हमेशा ऐसी रचनाएँ सृजी, जो भले ही लोकप्रिय न हों, आम लोगो की समझ में न आयें, लेकिन कला के उत्कृष्ट नमूने पेश करें। दूसरी ओर प्रेमचन्द

की परम्परा मे सोद्देश्य लिखने वालो का उद्दिष्ट चूँकि समाज और आम व्यक्ति रहा, इसलिए उन्होने ऐसी रचनाएं की, जिनमे न भाषा दुरूह है, न विचार। जाहिर है कि पहली के मुकाबिले मे वे ज्यादा लोकप्रिय हैं।

लेकिन यहाँ मैं एक बात की ओर सकेत करना चाहूँगा कि लोकप्रिय रचनाएँ भले ही कलावादियो की हों या सोद्देश्य लिखने वालो की, वही स्थायी महत्व रखती है, जो आम जनता के हृदयो मे भी जगह बना लें। लेखक कई बार अपने अहम में यह समझता है कि आम पाठक मूर्ख होते हैं और उसे प्रबुद्ध लोगो के लिए लिखना है। लेकिन उस तरह के प्रबुद्ध लोग तो शायद करोडो मे दो-एक हजार भी न हो। जब ऐसे लेखक अपनी रचनाएँ छपवाते हैं तो प्रयत्न उनका यही रहता है कि व्याख्याओ-दर-व्याख्याओं से वे अपनी रचनाओ को आम जनता तक पहुँचा दें और वे लोकप्रिय हो जायँ।

पाठको की मूर्खता के बारे मे भ्रम अक्षम लेखक ही पालते हैं। पाठक यदि इतने ही मूर्ख होते तो ताल्सतॉय और दास्तोयवस्की एक साथ उनसे लोकप्रियता की सनद न पाते।

प्रेमचन्द इस तथ्य को जानते थे। वे प्रबुद्ध और आम पाठको मे समान रूप से लोकप्रिय थे। विश्व के महान लेखको की जो रचनाएँ लोकप्रिय हुई हैं और जैसा कि मैंने पहले कहा कि हर लेखक के यहाँ चन्द-एक ही ऐसी हैं, उनमे जो गुण हैं, वे प्रेमचन्द की उन उत्कृष्ट रचनाओं में भी हैं, जो लोकप्रिय हुईं और आज भी लोकप्रिय हैं।

आज के व्यावसायिक और सस्ती मनोरंजक किताबो के युग मे जब कुछ लेखक वैसी पुस्तकें लिख कर हजारो कमा रहे हो, कई बार गम्भीर साहित्य के सर्जक उनकी स्पर्धा मे कुछ वैसा ही लिख कर रातों-रात धनी होने के सपने लेते हैं। प्रेमचन्द के समय मे वैसा मनोरंजक साहित्य लिखने वाले अथवा वैसी मनोरंजक पुस्तकें छापने वाले न हो, ऐसी बात नही। 'नीली छतरी,' 'बेगुनाह कैदी,' असरार-ए-दरबार-ए-लन्दन,' 'असरार-ए-दरबार-ए हरामपुर' आदि उस जमाने की ऐसी ही, साहित्य के गुणों से कोरी, लेकिन लोकप्रिय रचनाएँ थी। प्रेमचन्द

ने कभी उनकी स्पर्धा मे वैसा साहित्य लिखने की नही सोची । वे अप
डगर पर चलते हुए सोद्देश्य रचनाएँ करते रहे और अत्यन्त लोकप्रिय हुए
आज का साहित्यकार भी ऐसा करके ही समय को पार कर सकता है
जैसे सच्चा साहित्यकार भ्रष्टता का विरोध करता है, पर स्वय भ्र
नही होता, ऐसे ही उत्कृष्ट लेखक घटिया लिखने वालो के स्तर प
उतर कर लोकप्रिय नही बनता । वह अपने साहित्य में आम आदम
की तकलीफो, परेशानियो, मुसीबतो, उनके संघर्ष, उनके मनोविज्ञा
का चित्रण करके ऐसा साहित्य रचता है, सस्ता मनोरंजक साहित
पढने वाले भी जिससे अपना तादात्म्य स्थापित कर सके । आम लो
सस्ता साहित्य महज़ वक्त काटने के लिए पढ़ते हैं और उत्कृष्ट लोकप्रि
साहित्य को सोचने-समझने और उससे प्रेरणा पाने के लिए ...।

**'हस' की याद आपको आती ही होगी । क्या आज हस के पुन
प्रकाशन की आवश्यकता आप महसूस करते हैं ? 'हस' क
किस रूप मे आज आप सामने लाना चाहेंगे। साहित्
में उसका योगदान किस रूप में स्वीकार करेंगे ?**

हंस' की बहुत याद आती है, क्योकि मेरे आरम्भिक कैरियर में, कहूँ वि
मेरी लोकप्रियता में उसका बहुत बड़ा हाथ है । छपता मैं सभी पत्रिकाओं
में था, लेकिन जो सुख-संतोष और गर्व 'हंस' में छप कर होता था, वह
अन्यत्र दुर्लभ था । यदि झूठ न बोलूं तो कहूँ कि मैंने तो हिन्दी में
लिखना केवल 'हंस' में छपने के खयाल से ही शुरू किया ।

क्योकि आज कोई साहित्यिक पत्रिका नही है, इसलिए 'हंस' के
प्रकाशन की आवश्यकता से कौन इन्कार कर सकता है । मैं नही
समझता कि उसके रूप में किसी परिवर्तन की जरूरत है । वह जागरूक
और बेदार साहित्य का वाहक था ।

अगर मेरे जैसे लेखक का कोई योगदान साहित्य में होता है तो
'हंस' का भी है, क्योंकि हम तो प्रमुखतः उसी के बनाये हुए हैं ।

●

खण्ड २

रचना प्रक्रिया : कुछ अविस्मरणीय क्षण

अपने बहाने सहज कविता की बात

मेरी कथा यात्रा

रचना प्रक्रिया :
कुछ अविस्मरणीय क्षण

●

जब किसी लेखक को लिखते हुए पैंतालिस-पचास वर्ष हो जायँ, उसे अभिव्यक्ति पर पूर्ण अधिकार हो जाय और उसकी स्मृति भी अच्छी हो तो उसके सामाजिक और साहित्यिक जीवन मे विशेष अतर नही रह जाया करता और उसके जीवन के अविस्मरणीय क्षण उसके साहित्य के अविस्मरणीय क्षण बन जाया करते हैं। कब वह अपने जीवन के ऐसे क्षणो को कथा-कहानी, काव्य, नाटक अथवा उपन्यास में अभिव्यक्ति दे दे, इसका कोई ठिकाना नहीं।

अपनी जिन्दगी के न जाने कितने अविस्मरणीय क्षण मेरी याद के पर्दे पर अंकित हैं! उनका आकलन करने के लिए एक और उम्र और हजारों-हजार पृष्ठ चाहिएँ। मैं यहाँ उन कुछेक क्षणों का उल्लेख करूँगा, जिनके अधीन मैंने एक ही बैठक मे रचनाएँ की, वे उत्कृष्ट उतरी और उन्हें पर्याप्त ख्याति भी मिली।

जो लोग मेरी रचना-प्रक्रिया को जानते हैं, उन्हें मालूम है कि नाटकों, उपन्यासों और कहानियों की बात तो दूर रही, जरूरी पत्र तक मैं दो-तीन बार लिखता हूँ। लेकिन मेरे साहित्य में ऐसे एकांकी, कहानियाँ, नाटक और उपन्यास भी हैं, जिन्हें मैंने एक ही बैठक मे लिखा, उनमें कुछ संशोधन-परिवर्द्धन की गुंजाइश नहीं निकली और रचनाएँ छपीं तो जैसा मैंने कहा, वे उत्कृष्ट मानी गयीं और उन्हें लोकप्रियता की सनद भी मिली। मैं यहाँ केवल दो रचनाओं के संदर्भ में ऐसे अविस्मरणीय क्षणों का उल्लेख करूँगा।

जहाँ तक मुझे याद पडता है, इस तरह की पहली रचना मैंने १६३८ मे की। उन दिनो मैं पहला मसौदा उर्दू मे लिखता था। लाहौर रेडियो पर मेरा पहला एकाकी 'पापी' बहुत सफल हुआ था। उस जमाने की पंजाबी फिल्मो के तत्कालीन नायक हीरालाल ने, उसे रेडियो पर प्रस्तुत किया था और रेडियो वालो ने मुझसे दूसरा एकाकी माँग रखा था। तब मैंने एक एकाकी लिखा—'हुकूक का मुहाफिज।' उसे लिखने में मुझे काफी श्रम करना पडा। सात-दस दिन मे उसका पहला ड्राफ्ट तैयार हुआ। दूसरा ड्राफ्ट हिन्दी मे लिखा। उसमें जो सशोधन-परिवर्द्धन हुआ, उसे पुन उर्दू के (तीसरे ड्राफ्ट मे) शामिल करके मैं उसे लाहौर रेडियो स्टेशन मे सबमिट कर आया।

'हूकूक का मुहाफिज' श्री मुहम्मद इकबाल (प्रोग्राम एसिस्टेण्ट) और श्री सोमनाथ चिब (प्रोग्राम डायरेक्टर) को बहुत पसन्द आया और उन्होने उसे तत्काल शेड्यूल कर दिया।

उन्ही दिनो बनारस से स्व॰ प्रेमचन्द के सुपुत्र श्रीपत राय का पत्र आया कि वे 'हंस' का एकाकी विशेषाक निकाल रहे है और मैं उन्हें तत्काल अपना एक उत्कृष्ट एकाकी भेजूं। मैंने 'हूकूक का मुहाफिज' को दोबारा हिन्दी मे लिखा, उर्दू के दूसरे वर्शन मे जो एक-आध परि-वर्तन किया था, वह उस मे शामिल कर लिया, नाम रखा—'अधिकार का रक्षक'—और श्रीपत को भेज दिया।

वापसी डाक मसौदा वापस आ गया—'थर्ड रेट चीजो के लिए क्या 'हस' ही रह गया ?' श्रीपत के रिमार्क और इस अनुरोध के साथ कि मैं कोई दूसरा उत्कृष्ट एकाकी फ़ौरन उन्हे भेज दूँ, क्योकि वे विशेषाक को प्रेस मे देने जा रहे हैं।

पत्र पढ़ कर मुझे बेहद गुस्सा आया। जिस एकाकी की सबने इतनी प्रशसा की थी, उसे श्रीपत ने 'थर्ड रेट' की संज्ञा दे दी। उनमे मैत्री भी थी। उन पर कुछ अधिकार भी था। प्रेमचन्द के निधन के बाद एक बार वे मेरे यहाँ लाहौर मे दस-पन्द्रह दिन रह गये थे और मैं भी दस-बारह दिन उनके यहाँ बनारस हो आया था, लेकिन तब मैं उनके

स्वभाव की स्नॉबरी से परिचित नही था । श्रीपत को वास्तव मे साहित्य-वाहित्य से कुछ लेना नहीं । उन्होने केवल एक चीज़ मे सिद्धि पायी है और वह है, पैसा कमाना । इसलिए अपने मूड के अनुसार वे किसी रचना को फर्स्ट रेट या थर्ड रेट घोषित कर देते है । लेकिन ये बातें तो मुझे बहुत बाद मे मालूम हुई । उस वक्त तो दोस्ती का खयाल न कर, उस रिमार्क के साथ रचना लौटा देने पर मुझे बहुत क्रोध आया था । सितम यह कि दूसरा उत्कृष्ट एकाकी उन्होने तत्काल माँगा था, जैसे उत्कृष्ट एकाकी लिखना कोई मशीनी काम हो कि बटन दबाया और फ़र्स्ट रेट नाटक तैयार हो गया ।

कोई दूसरा सम्पादक वैसा बेतुका रिमार्क देकर रचना लौटाता तो मैं ज़िन्दगी भर फिर उसे रचना न भेजता । लेकिन कुछ सोचने पर मुझे श्रीपत के इस रिमार्क मे अपनापा भी लगा—अपनापा और अधिकार और चुनौती ! उस चुनौती को स्वीकार कर, मैने तत्काल दूसरा नाटक लिखने का फ़ैसला कर लिया । (विशेषाक मे छपने का लालच भी ज़रूर रहा होगा) दिन भर मैं झुँझलाता रहा, लेकिन ज्यो ही शाम हुई, मै ठण्डी सड़क पर सैर को गया । मेरी एक अनुभूति एकाकी का अस्पष्ट-सा रूप धरकर मेरे दिमाग मे आ गयी । रात मैं उसी पर सोचता सो गया । दूसरी सुबह जब मैं मेज़ पर बैठा तो यद्यपि मेरे लिखने का समय पाँच बजे शाम के बाद ही होता है (आज भी है) लेकिन उन क्षणो मे कुछ ऐसी एकाग्रता मुझे मिली कि मैं सर्र से लिखता चला गया और उस वक्त तक नही उठा, जब तक मैंने नाटक ख़त्म नही कर लिया । नाम रखा—'लक्ष्मी का स्वागत !'

उन दिनो मैं अपनी हर रचना अपने बड़े भाई और अपने यहाँ आने वाली एक युवा अध्यापिका शकुन्तला भल्ला को सुनाया करता था । नाटक ख़त्म करते ही मैंने जा कर अपने बडे भाई को सुनाया । उन्होने पसन्द किया । शाम को शकुन्तला विद्यालय से घर जाते हुए मुझ से मिलने आयी तो उसे भी सुनाया । उसने भी बहुत तारीफ़ की । तब मैंने उससे कहा कि मैं इसे कल ही 'हंस' के लिए भेज देना

चाहता हूँ। लेकिन मेरे पास इसकी कोई प्रतिलिपि नहीं है। तुम इसकी एक साफ़ प्रतिलिपि कर दो तो मैं इसे भेज दूँ।

'मेरी लेखिनी अच्छी नहीं है,' उसने कहा, 'आप मुझे एकाकी दे दीजिए! कल आपको बहुत सुन्दर लिखा मिल जायगा।'

मेरा मन मसौदा देने को नही था। मैं चाहता था कि वहीं बैठ कर वह नाटक की प्रतिलिपि तैयार कर दे। लेकिन उसकी लेखिनी वास्तव मे अच्छी नही थी। मैंने उसे मसौदा दे दिया और कहा कि गुम न हो जाय, इस बात का विशेष ध्यान रखे।

दूसरे दिन बहुत ही सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई 'लक्ष्मी का स्वागत' की प्रतिलिपि मुझे मिल गयी। (बाद में मालूम हुआ कि पिछली शाम शहर से मीलों बाहर कृष्ण नगर मे अपने घर जाने के बदले वह पुराने शहर के अन्दर सैद मिट्ठा बाज़ार अपनी एक छात्रा के यहाँ गयी थी और उसे सहेज आयी थी कि सुबह उसे नाटक की प्रतिलिपि मिल जाय। उस लडकी ने रात भर मे बहुत ही खूबसूरत अक्षरो मे प्रतिलिपि तैयार कर दी थी।) बहरहाल, एक नज़र उसे देख कर मैंने एकाकी श्रीपत को भेज दिया। अबकी बार नाटक न केवल उन्हे पसन्द आया और उन्होने उसे एकाकी विशेषाक मे प्रमुख स्थान दिया, वरन् 'सरस्वती प्रेस' से छपने वाले एकाकी संग्रह 'छै एकाकी' में भी उसे पहला स्थान दिया। उसके बाद तो न जाने वह कितने एकाकी संग्रहों में संकलित हुआ और मेरा अत्यन्त लोकप्रिय एकांकी माना गया।

मैं यह बात भलीभाँति जानता हूँ कि श्रीपत राय ने वह बेतुका रिमार्क न कसा होता तो न मुझे क्रोध आता, न चुनौती का एहसास होता, न वह एकाग्रता मिलती और यह भी हो सकता है कि वह एकाकी कभी लिखा ही न जाता।

'लक्ष्मी का स्वागत' की रचना-प्रक्रिया के सारे क्षण आज भी मेरी याद के पर्दे पर अंकित हैं।

०

फिर १६४० में एक कहानी मुझ से ऐसे ही एक सिटिंग में लिखी गयी।

मैं उन दिनो प्रीतनगर में था और लगभग साल भर से 'गिरती दीवारें' लिख रहा था। उपन्यास लिखते-लिखते थक कर जरा मूड बदलने को, मैंने एक कहानी लिखी 'चट्टान !' जैसा कि मैं पहले भी कहीं लिख चुका हूँ, मैंने उसे छै बार लिखा। लगभग ६० फ़ुल स्केप शीट। तब जाकर वह कुछ मन के मुताबिक बनी। फिर मैंने वहीं के एक अधे कुत्ते पर एक कहानी लिखी— कालू ! तभी कुछ महीने बाद दिसम्बर की सख्त सर्दी मे जब मैं एक शाम किचिन से खाना खा कर सैर करता हुआ लौटा तो मैंने अपनी कॉटेज के पक्के बरामदे मे, खुर्री-सी चारपाई पर एक मरियल से बुड्ढे को फटा-पुराना लिहाफ लपेटे खाँसते पाया। मैंने उसे दो-एक बार खेत में बैंगन के पौधों को छाँटते देखा था और उससे दो-एक प्रश्न किये थे। उसे उस सख्त सर्दी मे खुले पक्के बरामदे मे बैठे देख कर मैंने पूछा कि वहाँ क्यों बैठा है।

उसने बताया कि वह माहीराम का आदमी है।

'माही राम के आदमी तो हो,' मैंने थोडा खीझकर कहा था, लेकिन इस सख्त सर्दी मे तुम इस खुले बरामदे में क्यो पडे हो ?'

'मेरे पास कपड़ा है बाबू जी,' उसने सिर्फ़ इतना कहा।

माहीराम ठेकेदार का लम्बा तगडा छै-फ़ुटा राजस्थानी मेट था। मैं अपनी स्टडी में चला गया। मैंने लैम्प जलाया, लेकिन कुछ भी लिखना मेरे लिए असम्भव हो गया। मैं कपड़ों के नीचे खादी की मोटी बनियान, उस पर मोटी खादी की कमीज, उस पर गर्म वास्केट, फिर अचकन और गुलूबन्द तथा इन सब के ऊपर ओवर कोट पहने था और कुर्सी पर बैठते ही मैंने टाँगों पर कम्बल डाल लिया था और बाहर खुले बरामदे में शरीर पर मैली-सी खादी की बण्डी और घुटनो से ऊँची धोती पहने, सिर पर बड़ी-सी मैली पगड़ी बाँधे, शरीर को पतले-से लिहाफ़ से लपेटे वह कंकाल बुड्ढा खुर्री चारपाई पर बैठा था।—अपने कमरे की गर्मी में बैठना मेरे लिए मुश्किल हो गया। मैंने वहीं से फिर वही प्रश्न किया। बुड्ढे ने फिर वही उत्तर दिया। तब मैंने झुंझला कर पूछा कि वह माहीराम का आदमी तो है, पर उसका क्या लगता है ?

इससे पहले कि वह उत्तर देता, उसे खाँसी का सख्त दौरा पड
साँस दुरुस्त करके उसने करुण स्वर मे कहा कि वह माहीराम के ग
का है, उसके पाँच छोटे-छोटे बच्चे और दो ब्याहने योग्य लडकियाँ
और रोज़गार के लिए चला आया है।

तब मैंने कहा कि वह अन्दर कमरे मे लेट जाय; बरामदा दो तर
से खुला है, तीखी ठण्डी हवा चल रही है।

लेकिन तभी ठेकेदार का वह लम्बा तगडा मेट आ गया। उस
बताया कि उसे बराण्डे ही मे रहना है। सोना नही, जाग कर चौक
दारी करनी है, क्योकि कुछ दिनो से तरकारी के खेतों मे चोरी हो र
है। बुड्ढे को तो यूँही दिखावे के लिए बराण्डे मे बैठा दिया है, च
को तो झाडियो के पीछे छिप कर वह खुद पकडेगा—ज्यो ही बुड्ढे
सोया जान कर कोई चोरी करने आयेगा, वह उसे धर दबायेगा।

वह चला गया तो मैंने फिर किवाड़ लगा कर काम करने
कोशिश की, लेकिन मैं काम नही कर सका। खाना ज्यादा खा ग
था। कमरा गर्म था। भारी कपडे पहन रखे थे। आँखें मुँदने लगी
मैं स्टडी का ताला बन्द करके अपने छोटे-से सोने के कमरे में च
गया और कपड़े बदल कर सो गया। ध्यान शायद उस बुड्ढे की अ
ही लगा रहा, क्योकि मुझे ठीक से नीद नही आयी और दु स्व
आते रहे। एक बार उठा तो गला सूख रहा था। पानी पिया और
गया। दूसरी बार जगा तो बाहर झक्कड चल रहा था और बादल
गरज बार-बार सुनायी दे रही थी। अब के सोया तो सुबह किसी
ज़ोर-ज़ोर से दरवाज़ा खटखटाने पर ही जागा। मालूम हुआ रात
बरामदे मे बुड्ढा मर गया। मैं बाहर आया—बरखा हो रही थी, चा
ओर पानी-ही-पानी फैला था और उसी मैली चीकट चारपाई पर अ
इर्द-गिर्द एकदम गीला लिहाफ लपेटे (शायद खाँसी के दौरे में झुका
बुड्ढा अकडा पडा था।

उस दिन नाश्ता करने के लिए कम्युनिटी किचन में जाने को मे
मन नहीं हुआ। वर्षा थमने पर जब मैं खाना खाने गया तो ज़हर

दो कौर निगल आया। मैं जानता था कि जब तक मैं उस दृश्य को दिमाग से निकाल नही दूंगा, मैं कुछ नही कर पाऊँगा।

मैं वापस आकर मेज पर बैठ गया और उस वक्त तक नही उठा, जब तक मैंने वह सारी घटना कहानी मे नही उतार दी। खत्म करके मैंने नाम दिया—बैंगन का पौधा !

यद्यपि मै 'चट्टान' को उसकी अपेक्षा कही ज्यादा गहरी और श्रेयस्कर कहानी समझता था। लेकिन जैसा कि मैं पहले भी लिख चुका हूँ, जब मै लाहौर गया; मित्रो को वे तीनो रचनाएँ सुनायी तो सभी ने 'बैंगन का पौधा' की तारीफ की। यह उस वर्ष की बेहतरीन कहानियो मे गिनी गयी और कई संग्रहो मे सकलित हुई।

वह शाम और वह सुबह आज भी मेरे मानसपट पर उसी तरह अकित हैं।

●

अपने बहाने सहज कविता की बात

•

आज, जब कुछ ही महीनो बाद मै बहत्तर का हो जाऊँगा, मैं लगभग आधी सदी के अपने सृजन-प्रयासो पर नज़र डालता हूँ तो मुझे इस बात का तकलीफ़-देह एहसास होता है कि यद्यपि मैंने जब से होश सँभाला है, मैं गुनगुना और गा रहा हूँ (गाने से मेरा मतलब भावो की अभिव्यक्ति से है, फिर चाहे वह लय भरे गीत मे हो या गद्य मे) और यद्यपि मेरे काव्य के आठ सकलन छप चुके है और नौवाँ तैयार है; मेरी कुछ कविताएँ बहुत लोकप्रिय भी हुई हैं और ऐसे पाठको की भी कमी नही जो मुझे निरन्तर कविता करने की प्रेरणा देते हैं, मैंने इस विधा को अपनी पूरी शक्ति और समय नही दिया और शायद इसीलिए मैंने इसके बारे मे कही कुछ ज़्यादा नही लिखा।

साहित्यकार के रूप मे शायद मैं उस जल-पक्षी का भाग्य लेकर आया था, जो जन्म लेते ही जल में तैरने लगे, लेकिन कुछ ही समय बाद आन्तरिक और बाह्य दबावों के कारण नगरो और उद्यानों, जगलो और वीरानो, घाटियो और मैदानो मे घूमता फिरे, कभी-कभी थकन मिटाने को किसी जलाशय मे उतर जाय, कुछ क्षण गाये, गुनगुनाये और जैसे ताज़ा दम होकर फिर पँख फडफडाये और उड जाय।—यहाँ मै सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि काव्य मेरे लिए उसी जलाशय-सा रहा है। उपन्यास, कहानी, नाटक, संस्मरण के मुकाबिले काव्य का सामीप्य मुझे प्रकृति के सान्निध्य-सा सहज और सुखद लगा है और जब-जब मैं उसके निकट गया हूँ, मुझे अपूर्व तुष्टि की अनुभूति हुई है।—उस दृष्टि से मैं उपन्यासकार, नाटककार और कथाकार की अपेक्षा सहज रूप से कवि हूँ।

मैंने अपनी कविताओ के बारे मे कभी विस्तार से कोई व्याख्या नही दी। आज भी नही दूँगा, क्योकि मेरे वृहद उपन्यास 'गिरती दीवारें' का पाँचवाँ और अन्तिम खण्ड चल पडा है और मेरे पास समय नही है। नये पाठको के लिए सक्षेप में इतना ही कि मैं ५५ वर्षों से लगातार कविता करता आ रहा हूँ। उर्दू ग़ज़लो और नज़्मो से लेकर हिन्दी गीतो, रोमानी कविताओ, छन्दोबद्ध खण्ड-काव्यो, लम्बी अतुकान्त कविताओ से होता हुआ मैं आज ऐसी कविता करने लगा हूँ जो नयी कविता के निकट है, लेकिन मेरी पुरानी कविता से बहुत दूर नही। चूँकि छन्दोबद्ध रचनाएँ मन से उतर गयी और नयी कविता की उतनी समझ नही थी, इसलिए ५१-५६ तक लगभग छै वर्ष मैंने एक भी कविता नही लिखी। इसके बाद जब मैं फिर गुनगुनाने लगा तो यद्यपि मेरी कविताओ मे पुराने काव्य की अनुगूज थी, लेकिन उसका स्वर नये काव्य ही का था। वे सब कविताएँ 'सड़को पे ढले साये' मे सगृहीत हुईं। वह संग्रह पुरस्कृत भी हुआ और पसन्द भी बहुत किया गया, लेकिन उसके बाद मेरा अगला संग्रह 'खोया हुआ प्रभामण्डल' नितान्त दूसरी भाव-भूमि और मूड पर आधारित था। पिछले सग्रह 'अदृश्य नदी' की कविताएँ निश्चय ही 'खोया हुआ प्रभामण्डल' की कविताओं से भिन्न थी और सृजनाधीन संग्रह की कविताएँ फिर भिन्न हो गयी है। नयी बात यह हुई है कि कई दशकों के बाद मैं फिर ग़ज़लें भी कहने लगा हूँ।

०

साधारणत. समझा जाता है कि नयी कविता करना आसान है; कि गद्य को काटपीट कर छोटी-बड़ी पंक्तियो मे रख कर नयी कविता तैयार की जा सकती है और इसी भ्रम-वश हिन्दी-साहित्य का बाजार नयी कविताओं से पटा हुआ है। वे संग्रह प्राय. कविगण अपने खर्च पर अर्थात सहयोगी प्रकाशन के बल पर छपवाते रहते हैं। जैसे मैं नये कथाकारों की कहानियाँ पढ़ता हूँ, नये कवियो की कविताएँ भी देखता हूँ। मुझे यह कहने में संकोच नहीं, उनमें अधिकांश प्रायः कूड़ा

होता है। इसी भ्रम मे बच्चन जैसे पुराने गीतकार ने अपनी रविश छोड कर न जाने कितनी बेकार और भरती की कविताएँ लिखी हैं। पुराने कवि और गद्य लेखक के नाते मैं इतना तो निश्चय-पूर्वक कह सकता हूँ कि अच्छी नयी कविता लिखना अच्छी पुरानी कविता लिखने से किसी तरह आसान नही है, बल्कि यदि कहूँ कुछ मुश्किल है तो ग़लत न होगा।

पुरानी और नयी कविता मे क्या भेद है और कहाँ वह छन्दोबद्ध अथवा अतुकान्त कविता से कठिन पड़ जाती है, यह बताना तो यहाँ सम्भव नही, केवल इतना कह सकता हूँ कि एक बार नयी कविता का रस पाने के बाद पुरानी कविताओ से रस पाना कठिन हो जाता है और वैसा लिखना तो और भी कठिन !

०

जहाँ तक कविता की सहजता का सम्बन्ध है, कविता— या कहूँ कि साहित्य का नाम धरा पाने वाली हर रचना, प्रायः सहज नहीं होती। सहज और मौलिक रचना (शाब्दिक अर्थों मे) नितान्त अनगढ़, प्रायः असम्बद्ध, कई बार अस्पष्ट और कभी-कभी खासी विभ्रम-भरी होती है। उसका परिष्कार ही—भले वह मस्तिष्क मे हो अथवा कागज़ पर—उसे वह अकृत्रिमता, प्रमाणिकता और सरलता प्रदान करता है जो उसे सहज और उत्कृष्ट बनाती है।

मैं अपनी बात एक उदाहरण से समझाना चाहूँगा—

कवि डिलन टामस पर अपने पिता की मृत्यु का गहरा और स्थायी प्रभाव पडा। उसने उस घटना को लेकर दो कविताएँ लिखी। दूसरी कविता :

टू प्राऊड टु डाई ब्रोकेन एण्ड ब्लाइंड ही डाइड

डिलन टामस की अंतिम कविता है। उसने इस कविता का भाव दो-दो पंक्तियो के चार पैरो मे सीधे-सादे गद्य में लिख लिया था। उसकी मृत्यु के बाद उसके कागज़ो मे इस कविता को लिखने के प्रयास में साठ पृष्ठों का मसौदा मिला है। बार-बार उसने उन्हीं आठ पंक्तियों में व्यक्त

अनुभूति को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है। कही कोई पंक्ति जोडी, कही घटायी; कही एक शब्द आज़माया, कही दूसरा; कही एक तुक लगाया, कही दूसरा भिडाया—शब्दो के फेर-बदल से भिन्न-भिन्न पंक्तियो को भिन्न-भिन्न अर्थ देने की कोशिश की। इस कविता को एक बार उसने धारा, प्रवाह बिना अन्तराल के लिखा, फिर तीन-तीन पक्तियाँ के चरणो मे बाँटा। इस अंतिम प्रारूप की सत्रह पक्तियाँ उसने लिखी थी, जब उसका देहान्त हो गया। कवि वर्नन वाटकिन्स ने साठ पृष्ठो के उस मसौदे से अन्य पंक्तियाँ निकाल कर, मूल अनुभूति के प्रकाश मे इस कविता को चालीस पंक्तियों मे पूरा कर दिया और कवि की समग्र कविताओ के संकलन में इसे अन्तिम कविता के रूप मे स्थान दे दिया।

इस कविता को पढ़ना अपने मे एक उपलब्धि है। जितनी बार इसे पढ़ो, यह नये अर्थ देती है। मजे की बात यह है कि जिस अनुभूति को कवि ने आठ पंक्तियो में व्यक्त किया था, वह उस से दूर भी नही गया। उसने सिर्फ़ यह किया है कि अपनी उस अनुभूति को और भी गहन, अर्थपूर्ण, मर्मस्पर्शी और सम्पूर्ण बना दिया है—उस सीधे-सादे, गर्वीले, नास्तिक, किन्तु मरते समय यह सोच-सोच कर उदास और शर्मसार कि मृत्यु मे भी वह भगवान को नही मान सका—उस स्वाभिमानी, अंधे, कृशकाय, अन्दर-ही-अन्दर कष्ट पाते, पर आँखो मे आँसू न लाते—अपने पिता की मृत्यु से कवि को जो मर्मान्तिक आघात पहुँचा, उसने उसे निहायत कला-पूर्ण ढंग से चालीस पक्तियो मे व्यक्त कर दिया। वस्तु वही है, जो गद्य की आठ पक्तियों मे थी, पर सृजन-प्रक्रिया मे उसे नये अर्थ और आयाम मिल गये हैं, जो उस अनुभूति के तमाम गुह्य स्तरो को उभार कर उसे सम्पूर्णता प्रदान कर गये हैं।

०

लेकिन यह जरूरी नहीं कि जो कविता एक ही बार काग़ज पर उतर आये वह झूठी या अप्रमाणिक होगी। जैसा कि मैंने पहले कहा, कई बार कवि किसी अनुभूति को लेकर दिनों, हफ्तों, महीनों मन-ही-मन

सोचता रहता है और ऐसे मे जब वह एकाग्रता के किसी क्षण में कलम उठाता है तो कविता अपनी पूरी गहराई और गीराई (व्यापकता) के साथ कागज़ पर उतर आती है। मैं उत्कृष्ट रचना उसे मानता हूँ, जिस पर कवि ने चाहे कितना श्रम किया हो, पर जो अपने अन्तिम रूप मे नितान्त सहज लगे और कवि के भाव को सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्ति ही न दे दे, उसे पाठक तक पहुँचाने मे भी सक्षम हो।

प्रकट है कि देशी हो या विदेशी, किसी वाद के अनुकरण में या महज़ आइडेंटिटी की कामना से उल्टे-सीधे प्रयोग के सहारे अथवा फ़ैशन की शोभायात्रा मे शामिल होते हुए या फिर किसी राजनीतिक गुट के आदेश पर अपने देश और परिवेश और यहाँ के वासियों के दुख-दर्द से अछूती, दुबचेक या वियेतनाम के दर्द की मारी, अनुभूति-शून्य कविता कवि का चाहे कितना ही मन लुभाये या उसके लिए विदेश-यात्राओं के दरवाज़े भले ही खोल दे, पाठक के मन पर कोई प्रभाव नहीं छोडती। यही कारण है कि अकविता के नाम पर महज़ फैशन में चौंकाने के लिए लिखी गयी कविताओ ने उस आन्दोलन को ही गत्यावरोध के किनारे ला खड़ा किया। मैंने ज़िन्दगी के साथ बुरी तरह चिपके हुए, दफ्तरो मे अफ़्सरों की और घरो मे बीवियो की खुशामद करने वाले कवियो को बडे प्रेम भाव से आत्म-हत्या और मृत्यु-बोध के राग अलापते देखा है। सुख-सुविधा के तमाम साधन सयत्न जुटाने वालो को अपने काव्य मे ज़िन्दगी को एकदम नकारते हुए, प्रबल जिघासा की कविताएँ लिखते पाया है और चूंकि कही भी उन कविताओ को अनुभूति का संस्पर्श नही मिला, इसीलिए शब्दो की सारी भरमार के बावजूद वे कविताएँ नितान्त निर्जीव और इसीलिए असहज होकर रह गयी है। शब्दो रंगों ही की तरह अपने मे महज़ बेजान होते हैं। यह तो रचनाकार की अनुभूनि है जो कला के सस्पर्श से उन्हे प्राण और अर्थ दे देती है।

०

इन लम्बे पचपन वर्षों मे मैने एक बैठक में तीन-तीन कविताएँ भी लिखी हैं और एक-एक कविता पर हफ़्तों-महीनों श्रम भी किया है, लेकिन मैंने

कभी किसी वाद या फ़ैशन या इतर मसलहत से कविता नही लिखी। मैं वैसा कवि हूँ भी नही, जो मोमबत्ती की तरह अपने ही मोम से जलता रहता है और जो अन्तर के सागर मे गहरे डूब कर काव्य के मोती लाता है। निर्मल वर्मा से शब्द उधार लूँ तो कहूँ कि मेरी कविता अँधेरे मे चीख भी नही है। तलवार और लेखनी दोनो से खेलने वाले, रण-क्षेत्र मे नाकाम और काव्य क्षेत्र मे कामयाब चीनी कवि जनरल ल्यू शी से मैं सहमत हूँ, जिसने आज से १५०० वर्ष पहले कहा था कि कविता में एक तरफ़ कवि होता है और दूसरी तरफ सारा संसार और दोनो के सम्पर्क ही से काव्य जन्म लेता है। मेरे यहाँ अनुभूति चाहे व्यक्तिगत हो अथवा समष्टिगत, बाहर का जो प्रभाव मेरे अतर पर पड़ा है, वही मेरे काव्य में प्रतिबिम्बित हुआ है और मेरे उपन्यासो, कहानियो अथवा नाटको की तरह मानव स्थिति और मानव नियति ही मेरे काव्य का विषय रही है। नये आन्दोलनो से मैंने प्रभाव न लिया हो, ऐसी बात नहीं है, लिया है, लेकिन उन प्रभावो को अपनी अनुभूतियो के प्रकाश में निखारा और सँवारा है। शुरू से आज तक मेरे काव्य मे जो भी मोड़ आये हों, मेरे काव्य की वस्तु और शिल्प जैसे भी बदला हो, मेरा अपना रग हमेशा उनमें प्रतिबिम्बित हुआ है। इसके बावजूद जैसा कि एक आलोचक ने कहा है 'मेरे समूचे काव्य-प्रयासो मे एक ऐसी एकतानता है जो काव्य-वस्तु और काव्य-शिल्प के तमामतर परिवर्तनो मे भी, गहरी नजर से देखने वाली आँख से छिपी नहीं रह सकती।'

०

इधर देश के सभी नागरिकों की तरह राजनीतिगत स्थितियाँ मुझे भी परेशान कर देती है और अनचाहे भी मेरी कविताओ मे उनका असर आ गया है। मैंने आज तक प्राय: इन प्रभावों से अपने को बचाये रखा है, लेकिन रोम जब जल रहा हो तो कोई नीरो ही बाँसुरी बजा सकता है, किसी भाव-प्रवण कवि के लिए वैसा करना कठिन है।

इसलिए 'अदृश्य नदी' और मेरे सृजनाधीन नौवें कविता संग्रह की कुछ कविताओं को अजाने ही उसकी की छुअन मिल गयी है। ऐसा न होता तो असहज होता, पर मैं वैसा कवि नहीं हूँ। ●

मेरी कथा यात्रा

•

प्राय. कहा जाता है (मैंने भी लिखा है) कि अपना साहित्यिक जीवन मैंने एक कवि के रूप में शुरू किया, लेकिन जहाँ तक तथ्यों का सवाल है, मैं समझता हूँ, मेरी गद्य-पद्य यात्राएँ साथ-साथ शुरू हुईं।

यह ठीक है कि मैंने पाँचवी कक्षा में पहले भजन लिखने शुरू किये और फिर ज़ोर-शोर से पजाबी मे कविता करने लगा। लेकिन मुझे याद है, मै साथ-साथ गद्य लिखने का भी प्रयास करता था। आठवीं कक्षा मे मैंने एक जासूसी उपन्यास लिखने की ठानी थी और आधा लिख भी ले गया था, लेकिन तभी सामाजिक और राजनीतिक रचनाएँ मुझे अच्छी लगने लगी और अपना अधूरा जासूसी उपन्यास मेरी नज़र से उतर गया। आठवी पास करते ही मैंने एक तरफ उर्दू में ग़ज़ल कहना शुरू किया, दूसरी तरफ कहानियाँ लिखने की कोशिश की और जहाँ तक प्रकाशन का सम्बन्ध है, मेरी गद्य-पद्य रचनाएँ एक ही वर्ष मे पत्र-पत्रिकाओ मे छपने लगी।

मैंने एक सस्मरण मे लिखा है कि अपने उस्ताद से रुष्ट हो कर मैं कहानी की ओर पलटा, जिस विधा मे मुझे किसी उस्ताद के परामर्श और इस्लाह की ज़रूरत न पडे। बात वह ग़लत नही है और वह सारी-की-सारी घटना मुझे ऐसे याद है, जैसे कल घटी हो, लेकिन यह भी सच है कि मैं ऐसा निर्णय तभी ले सका, जब कि गद्य के क्षेत्र में मेरे आरम्भिक प्रयास बिना किसी सिफारिश के लाहौर के प्रसिद्ध दैनिको के रविवासरीय अको मे छपने लगे थे। मेरी फ़ाइलो में १६२८ में छपने वाली मेरी पहली नज़्म 'वासोख्त' और पहली गद्य-रचना 'विधवा के

जज़्बात' के तराशे सुरक्षित पडे है। इन दोनो रचनाओ के प्रकाशन मे कुछ ही महीनो का अन्तर है।

तब मैं ग्याहवी कक्षा मे पढता था।

पाँचवी से आठवी तक (आठवी मे मैं दो वर्ष रहा) चन्द्रकान्ता सन्तति से लेकर जासूस ब्लैक और आरसीन लोपन के कारनामो तक, न जाने मैंने कितनी तिलिस्मी और जासूसी पुस्तके पढी और वैसी ही रचनाएँ करने की कोशिश की, लेकिन आठवी के दूसरे वर्ष मे मै दैनिक प्रताप लाहौर के सम्पादक नानक चन्द नाज़ (जो सामाजिक कहानियाँ लिखते थे) और दैनिक मिलाप लाहौर के सम्पादक के बडे सुपुत्र श्री रणवीर सिंह वीर (जो क्रान्तिकारियो की कहानियाँ लिखते थे)—इन दो कथाकारो के प्रभाव मे आ गया और सामाजिक तथा काल्पनिक राजनीतिक कहानियाँ लिखने लगा। जहाँ तक मुझे याद पडता है, मैट्रिक तक पहुँचते-पहुँचते मै प्रेमचन्द और सुदर्शन की रचनाएँ पढने लगा था। कॉलेज मे मोपासां की 'नेकलेस' पढ़ी, उसका अनुवाद भी किया। उस कहानी ने मुझे बहुत प्रभावित किया। फिर उन लेखको का भी प्रभाव पडा, जो कला की आराधना महज़ कला के लिए करते थे।

लेकिन यद्यपि २६ से ३६ तक—उन दस वर्षों मे—मैंने कुछ लोकप्रिय कहानियाँ लिखी, जिनमे 'चैन का अभिलाषी,' 'औरत की फ़ितरत,' 'भिश्ती की बीवी,' 'माया,' '३२४' और 'निशानियाँ' काफ़ी प्रशंसित हुई, लेकिन मेरे निकट उनमे एक भी ए-वन कहानी नही थी। उन लगभग साठ कहानियो मे (जिनमे बीस हिन्दी मे प्रकाशित हो गयी हैं और ४०, जो केवल उर्दू दैनिको के रविबासरीय अंको और साप्ताहिको मे छपीं, मेरी फ़ाइलो में सुरक्षित पड़ी हैं) केवल तीन ही ऐसी हैं जो मेरे निकट शिल्प और वस्तु की दृष्टि से अच्छी हैं और जिनके प्रशंसक आज भी मिल जाते हैं। उनके नाम हैं '३२४,' 'निशानियाँ' और 'माया'। ये तीनो कहानियाँ उस दशक के पिछले दो वर्षों में लिखी गयी हैं।

मेरी पहली कहानी, जिसे पूरे देश मे अभूतपूर्व लोकप्रियता मिली

'डाची' है । जहाँ तक मुझे याद पडता है, यह १६३७ मे छपी और तब से आज नक, पिछले चालीस वर्षों मे इसकी लोकप्रियता में किसी तरह की कमी नही आयी ।

दस वर्ष तक लगातार साधारण कहानियाँ लिखते-लिखते, जो मैं अचानक उत्कृष्ट कहानियाँ लिखने लगा, तो इसका कारण मैं उस बदलाव को मानता हूँ, जो अचानक मेरे देखने और सोचने के ढंग में पैदा हुआ । १६३४ से ३६ तक—उन दो वर्षों में, मेरी व्यक्तिगत जिन्दगी ही मे भारी परिवर्तन नही हुआ, देश के साहित्य-क्षेत्र मे भी महत्वपूर्ण बदलाव आया । जहाँ तक मेरी व्यक्तिगत जिन्दगी का ताल्लुक है, इन दो वर्षों मे लॉ पास करने के लिए मैंने घोर संघर्ष किया, पत्नी की लम्बी बीमारी झेली और यद्यपि मैंने कानून विशेष योग्यता से पास कर लिया, मै पत्नी को नही बचा सका । वह डेढ वर्ष तक यक्ष्मा के चगुल मे फँसी रही । दिसम्बर १६३६ में वह उस लम्बी तकलीफ-देह बीमारी से नजात पा गयी और मेरी जिन्दगी यकसर बदल गयी ।

उन्ही दिनो उर्दू साहित्य के क्षेत्र में 'अंगारे-ग्रुप' का उदय हुआ । लखनऊ मे पहला अ० भा० प्रगतिशील-लेखक सम्मेलन हुआ, प्रेमचन्द ने अपनी कहानी 'कफन' और उपन्यास 'गोदान' लिखा । इन तमाम व्यक्तिगत और साहित्यगत घटनाओ का मेरी दृष्टि, मेरी विचार-धारा और मेरे साहित्य की वस्तु और शिल्प पर गहरा प्रभाव पडा । अपने दुख से मैंने दूसरो के दुख को देखना सीखा और प्रगतिशील आन्दोलन से उपादेय ढग से सोचना । सच्ची बात यह है कि मैं इन दोनों के असर से आज तक मुक्त नही हुआ । फैज ने पिछले दिनो एक प्रश्न-कर्ता को बहुत अच्छा उत्तर दिया । प्रश्नकर्ता का कहना था कि आप प्रगतिशील कवि हैं, आप कैसे विभिन्न सरकारों के साथ ताल-मेल बैठा सके ? यदि आप उन सबके साथ काम कर सके तो प्रगतिशील कैसे रहे ? फ़ैज ने कहा कि प्रगतिशीलता का ताल्लुक मेरे विचारो से है और मेरी प्रगतिशीलता को मेरे काव्य में देखना चाहिए ।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, यद्यपि मैं कभी 'प्रगतिशील लेखक संघ'

का बाकायदा सदस्य नही बना, इलाहबाद के प्रगतिशील लेखक बहुत से व्यक्तिगत कारणो से मेरे खिलाफ जिहाद भी बोलते रहे, मैं भी उनका टखना खीचता रहा, लेकिन मै इस बात से इनकार नही कर सकता कि मेरी विचार-धारा और मेरे साहित्य के उद्देश्य पर उस आन्दोलन का बहुत प्रभाव पडा। कल्पना और 'कला के लिए कला' के इन्द्रजाल से तो मैं उसी के कारण निकल पाया।

और तब मुझे अपनी वे तमाम कहानियाँ हेच और पोच दिखाई देने लगी, जिन्हे मै अपनी मास्टरपीस रचनाएँ समझता था। मुझे याद है—अपनी एक कहानी 'कुर्बानगाह-ए-इश्क' (जो बाद मे 'प्रेम की वेदी' के नाम से मई १९३८ मे सरस्वती इलाहाबाद मे छपी) जब मैंने ३२-३३ मे लिखी थी तो मै उसकी कला और कल्पना पर मुग्ध था, पर उस नयी दृष्टि से देखने पर मुझे वह कल्पना की ऐसी रोमानी उडान लगी, जिसका यथार्थ की दुनिया से वैसा ताल्लुक न हो। तब मुझे हैरत हुई कि जिस कहानी के पाँव ज़रा भी धरती पर नही थे, मै कैसे उस पर इतना मुग्ध था!

०

बहरहाल, १९३६ का वर्ष मेरी कथा-यात्रा का निहायत ही महत्व-पूर्ण वर्ष है। वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मेरी सारी रोमानियत उडछू हो गयी और मेरा कथाकार पूर्णत यथार्थ की धरती पर उतर आया। उसके बाद मैंने कभी कल्पना से काम न लिया हो, यह तो मैं नही कह सकता। (बिना कल्पना के समावेश के कहानी सम्भव ही नही होती) सिर्फ़ यही कह सकता हूं कि मेरी कल्पना भी मेरे अनुभूत यथार्थ के घेरे में रही। जिस बात या घटना या पात्र या स्थान का मुझे फ़स्ट हैण्ड ज्ञान नही रहा; जिस वस्तु या स्थिति से मेरी सीधा सम्पर्क नही रहा, उसे मैंने कलम की नोक पर नहीं रखा। उदाहरण के लिए मैं 'डाची,' 'काकड़ाँ का तेली' और 'अंकुर,' अपनी तीन प्रसिद्ध कहानियो को लूंगा। इनका यथार्थ तो क्रमश. वह साँडनी है, जिसे बाक़र खरीदता है; वह जलता-तपता धूल-भरा मार्ग है, जिस पर काकड़ाँ का तेली

अपने परिवार के साथ यात्रा करता है और वे कगन है जिन्हे पाकर सेंकरी फूली नहीं समाती। इन तीनो को मैंने देख रखा था। वही वास्तव में उन कहानियों की मूल प्रेरणा हैं। लेकिन मैं यह नही कह सकता कि मैंने कल्पना से इनके गिर्द जो घटनाएँ और पात्र रचे, वे कही-न-कही मेरे अनुभव का अंग वही थे। वे सब घटनाएँ और पात्र कही-न-कही मैंने देखे थे, इसलिए जब मैंने कल्पना के समावेश से उन्हे उपयुक्त स्थान पर रखा तो वे निहायत प्रमाणिक बन कर कहानियो मे उतर आये।

०

मेरी कथा-यात्रा कभी एक सीधे मार्ग पर नही चली। मेरा उद्देश्य जब भी मेरे सामने ३६ मे स्पष्ट हुआ और मैंने काल्पनिक रोमानी कलापूर्ण कहानियाँ लिखने के बदले मानव-नियति और मानव-स्थिति का चित्रण अपने साहित्य का उद्देश्य बनाया, मैं उससे नही भटका, लेकिन उस तक पहुँचने के लिए मैंने कई रास्ते अपनाये —

१. विशुद्ध हास्य का मार्ग—'चपत,' 'रोबदाब,' 'तकल्लुफ़,' 'लिरेजाइटिस,' 'चारा काटने की मशीन,' 'आ लडाई आ....,' 'खाली डिब्बा' तथा 'टोपियाँ और डाक्टर'—जैसी हास्य रस की कहानियाँ उसी मार्ग की यादगार हैं।

२. 'तीव्र व्यंग्य का मार्ग'—'मनुष्य—यह !' 'पिंजरा,' 'गोखरू,' 'काले साहब,' 'कैप्टन रशीद,' 'जब सन्तराम ने बेलना उठाया,' 'फतूर' 'आर्टिस्ट,' 'दालिए,' 'बरूसी का फूल और भैंस' तथा 'झटके' आदि तीव्र व्यग्य-परक कहानियाँ इसी दूसरे मार्ग की उपलब्धि है।

३. सेक्स प्रधान मनोविज्ञान का मार्ग—मानव-स्थिति अथवा मानव-नियति के निर्धारण मे इस मार्ग पर मैं ज्यादा नही चला। तो भी मेरी कुछ निहायत अहम कहानियाँ —जैसे 'अकुर,' 'चट्टान,' 'उबाल,' 'पलग,' 'बेबसी,' 'झाग और मुस्कान' और 'अजगर' इसी मार्ग से मुझे प्राप्त हुई है।

४. बहु आयामी मार्ग—गत दस वर्षों से, याने 'अजगर' के बाद

जो १९६८ मे लिखी गयी—मैंने एक भी कहानी नही लिखी। अपने अधिकाश समय मे अपने वृहत् उपन्यास 'गिरती दीवारें' के अगले खण्ड लिखने मे तल्लीन रहा, लेकिन १९५८ से १९६८ तक मैंने जो कहानियाँ लिखी, वे 'डाची,' 'काकड़ाँ का तेली,' 'काले साहब,' 'तकल्लुफ' वगैरह की तरह एकागी अथवा एक आयामी कहानियाँ नही थी। इन कहानियो मे मैंने एक साथ बहुत-सी बाते कहने की कोशिश की। मिसाल के लिए 'पलग' ही को लीजिए। वह एक युवक के कम्पलेक्स की कहानी है, जिसे उसकी शादी पर सोहाग सेज के लिए माँ अपना पलंग दे देती है। वह उस पर अपनी पत्नी के साथ सोता है तो हर क्षण उसे अपनी माँ की याद आ जाती है और वह ठण्डा पड जाता है। अन्ततः वह बगल का दरवाजा तोड़ कर दूसरे कमरे मे पड़े, जहेज़ मे आये खुर्रे पलंग पर अपनी पत्नी के साथ जा सोता है और अपनी ग्रन्थि से मुक्ति पाता है। लेकिन यह कहानी जितनी उसकी है, उतनी ही उसकी माँ की है, जो अपने पुत्र के माध्यम से • वाइकेरियस प्लेजर (सम्प्रेषित सुख) पाना चाहती है और असफल रहती है। यह दूसरा आयाम कहानी को और भी गहरा बना देता है। 'आकाशचारी,' 'एक उदासीन शाम,' 'अजगर' 'कहानी लेखिका और जेहलम के सात पुल' इसी तरह की बहु-आयामी कहानियाँ हैं।

मैं नही जानता मैं अब कभी कहानी लिखूँगा या नही, पर यदि लिखूँगा तो जो आधारभूत विचार पक रहे हैं, उनकी अभिव्यक्ति के लिए मैं नया मार्ग अपनाऊँगा और वह 'आकाशचारी' के निकट होगा—एक दूसरे में घुला-मिला यथार्थ और फंतासी का मार्ग!

•

अपनी इस कथा-यात्रा मे मुझे ज्यादा कुण्ठित अथवा असफल नहीं होना पडा और मुझे श्रम चाहे जितना पड़ा हो, अपनी रचनाओं से इच्छित प्रभाव पैदा करने में हमेशा मैं कामयाब रहा। इस संदर्भ मे दो सूत्र मेरे बहुत कम आये। पहला : कमन्द इतनी ऊँची न फेको कि फँसे ही नहीं और दूसरा . शिखर की ओर छलांग मत लगाओ, सीढ़ी-दर-

सीढी चढ़ो ।

पहले सूत्र के कारण मैं दैनिक पत्रो के रविवासरीय अको से सप्ताहिको, साप्ताहिको से साधारण मासिको और साधारण मासिको से उच्च कोटि के मासिको तक पहुँचा । हिन्दी मे आते वक्त एक बार मैं इस सूत्र को भूल गया; कमंद ऊँची फेंक बैठा; कुण्ठित होते-होते बचा, लेकिन मै जल्दी सँभल गया और फिर मुझे कठिनाई नही हुई । इस सूत्र के कारण मैं अपने कॉलेज के पाठको से अपने नगर के पाठको, फिर लाहौर के पाठको, फिर देश और फिर विदेश के पाठको तक पहुँचा ।

दूसरे सूत्र पर चलते हुए मैंने बड़े धैर्य से शिल्प को साधा । पहले बहुत छोटी कहानियाँ लिखी, फिर ज़रा बडी, फिर और बडी, फिर लघु उपन्यास, फिर अपेक्षाकृत बृहद उपन्यास और फिर अपना मैगनम ओपस—'गिरती दीवारे उपन्यास-माला' ! हज़ारो-हजार पृष्ठ । रास्ता कितना भी कठिन क्यो न रहा हो, मेरी निगाहे मजिल से नही हटीं ।

खण्ड ३

खोने और पाने के बीच

●

वर्षों पहले मैं एक शाम लूकरगंज से वापस आ रहा था कि ग्राउँड मे कुछ लड़कों को क्रिकेट खेलते देख कर रुक गया। मुझे जल्दी घर वापस पहुँचना था, लेकिन मैं खेल देखने में कुछ ऐसा तल्लीन हुआ कि जल्दी घर पहुँचने की बात यकसर भूल गया। जब काफी देर बाद—एक पाली खत्म होने पर ही—मैं वहाँ से चला तो अनायास कुछ पंक्तियाँ दिमाग मे आ गयी :—

आज मै रुका यहाँ अनजान
देखता हूँ बच्चों का खेल
जवानी नादानी का मेल
सहारा जिसका है अज्ञान

और मैं लिये ज्ञान का भार
नशे में विद्वत्ता के चूर
जवानी की खुशियों से दूर
जला आया कितने उद्यान

कविता जहाँ तक मुझे याद पड़ता है, तीसरा बन्द लिख कर मैंने पूरी की थी। पंक्तियों में कुछ फेर-बदल भी किया था और किसी डायरी में नोट कर ली थी। लेकिन डायरी इधर-उधर हो गयी और मैं इसे भूल गया।....आज जब लिखते हुए मुझे आधी सदी से ऊपर समय हो गया है और मुझसे पूछा जा रहा है कि साहित्य क्षेत्र में इतनी अवधि तक कार्यरत रहने के बाद मैंने क्या खोया और क्या पाया ? तो

अचानक मुझे ये पंक्तियाँ याद हो आयी है, कहूँ कि एक पक्ति विशेषकर मेरी याद के पर्दे पर उभर आयी है

जला आया कितने उद्यान

क्योकि एक-निष्ठ भाव से साहित्य का अनुसरण करते हुए, न जाने मैंने अपनी किन इच्छाकाँक्षाओ का गला नही घोटा और सपनो के कितने उद्यान अपने हाथो नही जला डाले। शायद इसीलिए कि बहुत पहले मैंने जान लिया था भगवान सबको सब कुछ नही देता और एक इच्छा की पूर्ति के लिए दूसरी कई इच्छाओ का दमन अथवा त्याग करना ज़रूरी होता है। माँ कहती थीं—एके साधे सब सधे, सब साधे सब जाय! और पिता कहते थे—सब कामो मे टाँग अड़ाओ, पर एक मे कमाल हासिल करो! और मैने ऐसा ही किया।

यह सब तो ठीक है, लेकिन त्यजित अथवा दमित आकाँक्षाएँ कई बार अपनी याद तो दिलाती हैं और आदमी अपने उद्देश्य की पूर्ति से यदि सुखी और सम्पन्न होता है तो मार्ग मे आया हुआ बहुत-सा सुख छोड देने से कभी विपन्न भी महसूस करता है।

इस सदर्भ मे सोचता हूँ तो सब से पहले मेरे मन मे अपने खिलाडी की याद आती है। मैं कॉलिज के ज़माने में हॉकी बहुत अच्छी खेलता था। फिर प्रीतनगर मे बैडमिण्टन, बम्बई में टेबल-टेनिस और इलाहाबाद मे शुरू के दिनो मे कैरम! टेनिस मै कभी नही खेला कि वह बहुत मेहगा खेल है। लेकिन टेनिस देखना मुझे बहुत प्रिय रहा है। १९७४ मे जब मै इग्लिस्तान मे था तो विम्बलडन चैम्पियनशिप के मुकाबिले हो रहे थे। मैने टी० वी० पर उस टूर्नामिण्ट के सभी प्रमुख मैच देखे। जिम्मी कॉनर्स उस वर्ष विम्बलडन का चैम्पियन घोषित हुआ था। अपने पहले मैच मे वह लडका-सा लगता था, केवल उसके हठ ने ध्यान खीचा था, लेकिन जब वह फाइनल में केन रोज़वाल के मुकाबिले मे उतरा तो विजय और आत्मविश्वास के कारण अपने कद से जैसे दुगुना दिखायी देने लगा था और वह खेल के दौरान लॉन पर छाया रहा। फिर वह चालिस वर्षीय पतला-छरहरा केन रोज़वाल,

जो स्टेन स्मिथ और न्यूकॉम्ब जैसे लम्बे-तगडे शक्ति-सम्पन्न विम्बलडन-चेम्पियनो को हरा आया था... मुझे उसकी सूरत कभी नही भूलेगी। जब वह प्वाइंट हारता था तो अजीब बेबसी से सिर को झटका देता था। .

यद्यपि उस वर्ष औरतो के मुकाबिले मे अमरीका की क्रिस ईवर्ट विम्बलडन चैम्पियन हुई थी, लेकिन मेरी आँखो मे आज भी इंग्लिस्तान की वर्जीना वेड और चेकोस्लोवाकिया की मार्टिना निवरातिलोवा की सूरते घूम रही है। वर्जीना वेड और क्रिस ईवर्ट मे अन्तिम मुकाबिला हुआ था। वर्जीना जब एक सेट के बाद कुछ क्षण आराम करने जाती तो उसके पतले गले की नसें तक उभरी दिखायी देती। सारे खेल के दौरान वह अत्यन्त गम्भीर बनी रही थी। उसकी अपेक्षा क्रिस ईवर्ट और मार्टिना निवरातिलोवा ऐसे खेलती थी, जैसे चैम्पियनशिप का नही, किसी छुट्टी का शौकिया मैच खेल रही हो। मुझे मार्टिना का खेल बहुत अच्छा लगा था। उसी चैम्पियन शिप के मैचो मे मैंने विम्बलडन की पुरानी चैम्पियन, आस्ट्रेलिया की गुलागाग काउड़े को भी देखा। आज यह सोच कर मुझे खुशी होती है कि उस वर्ष मैंने इतने सारे विम्बलडन चैम्पियन्ज़ को एक साथ मैच खेलते देखा। क्योकि बाद के वर्षों मे वर्जिना वेड और मार्टिना निवरातिलोबा भी चैम्पियन हुई।....

मुझे फ़ुटबाल के विश्व कप के मैच देखने का भी अवसर मिला और हॉलेण्ड और वेस्ट जर्मनी के मैच हमेशा मेरी याद के पर्दे पर अंकित रहेगे। विशेष कर हॉलैण्ड के खिलाड़ियो का यह कमाल कि फ़ुटबाल लेकर बढ़े आते प्रतिद्वन्द्वी को पाँच-पाँच खिलाडी घेर लेते थे और उनमें से एक ऐसे फिसलता था कि गिरते वक्त उसके पाँव दूसरे की टाँगो के बीच से बाल को, बिना फाउल किये, परे निकाल देते। वह दृश्य आश्चर्यचकित कर देने वाला था....

जब-जब इलाहाबाद में फ़ुटबाल, क्रिकेट, हॉकी या बैडमिण्टन के टुर्नामिण्ट हुए हैं, मेरा मन उन्हें देखने को लालायित हो उठा है। लेकिन मैं कभी जा नही पाया। न स्वयं कभी खेल पाया, न देख ही पाया।

क्रिकेट, फुटबाल, हॉकी की बात तो दूर रही, मैं तो कैरम जैसी इन-डोर गेम तक मन-मुताबिक नहीं खेल पाया। कभी-कभी जब मैं अपनी इस विवशता के बारे मे सोचता हूँ तो मेरे दिल में अजीब-सी हूक उठती है और अपने जीवन मे बहुत बडी कमी का एहसास होता है।

मैं कॉलेज के दिनों में बाकायदा मंच पर उतरता था। एक्टिंग का मुझे बेपनाह शौक था। मंच पर अभिनय करते हुए आपके किसी संवाद अथवा भगिमा पर जब दर्शक ताली बजा उठें अथवा जब बाज़ार में चलते हुए कोई आपकी ओर उँगली उठा कर अपने साथी से उस भूमिका का उल्लेख करे, जिसमें आप उतरे हों तो जो सुख मिलता है, उसे वह अभिनेता ही जान सकता है, जिसने कभी ऐसा सुख पाया हो। मेरे मन मे मंच के सफल अभिनेता के नाते ख्यात होने की ही नही, फ़िल्म के पर्दे पर उतरने की भी साध थी। यही नही, सिने अभिनेता के साथ-साथ मैं फ़िल्मी कथा लेखक और गीतकार भी बनना चाहता था। मच पर उतरने के अलावा मैंने फ़िल्मी कहानियाँ भी लिखीं और गीत भी और मैं दो-दो फ़िल्मो मे अभिनेता के रूप में भी उतरा, लेकिन जब मेरे सामने यह विकल्प आया कि मैं फ़िल्मी दुनिया में रहूँ अथवा साहित्य-क्षेत्र में, तब फ़िल्मी दुनिया के तमाम ग्लैमर और वहाँ मिलने वाले धन-वैभव के मुकाबिले मे मुझे अपने तमाम कष्टो और अभावों के बावजूद साहित्य-क्षेत्र कही श्रेयस्कर लगा और मैं फिल्मी दुनिया छोड आया। मेरे अधिकाश मित्र आज भी वही फिल्मो मे हैं। कुछ ने बहुत नाम और धन कमाया है। जब मैं अपनी योग्यता और तेज़ी के बारे में सोचता हूँ तो कभी-कभी मुझे लगता है कि चाहता तो मैं भी वह सब पा सकता था और मुझे कभी-कभी, भले ही क्षण-काल के लिए, अफसोस भी होता है।

जवानी मे मेरे मन मे अध्यापक बनने की बहुत साध थी। मुझे पूरा विश्वास है कि अगर मैंने उसे व्यवसाय को अपनाया होता तो मैं बहुत अच्छा अध्यापक साबित होता और मेरे छात्र हमेशा मुझे याद रखते। मैं व्यक्तिगत दिलचस्पी लेकर ऐसे लड़कों को सही रास्ते पर डाल

देता, जिन्हे प्राब्लम-स्टूडेण्ट्स कहते हैं, क्योकि मैंने इस विषय पर बहुत पढा है और सफलतापूर्वक करके देखा है। मेरे निकटस्थ मित्र जानते है कि मेरी पहली पत्नी से मेरा बडा लडका भटक गया था। छै-छै बार धर से भाग गया। उस वक्त जब मेरी दोनो पत्नियो, मेरे भाइयो, भाभियो, मेरे मित्रो, मित्र-पत्नियो और टोले-मुहल्ले वालो ने उसके बारे मे उम्मीद छोड़ दी थी, सिर्फ मैं मानता था कि दोष उसका नही, हमारा है और वह ठीक हो सकता है। और मैंने अपने दिमाग़ की पूरी शक्ति उसे ठीक करने मे लगा दी। यह सही है कि इस प्रयास मे कई वर्ष लग गये और मुझे बडे रिस्क लेने पडे, लेकिन अन्ततः मैंने उसे ठीक कर लिया। आज जब मेरा बड़ा लडका मेरी दायी बाह बना, परिवार का अधिकाश बोझ अपने कंधो पर उठाये है, उसे देख कर मेरे मित्र चकित हैं कि वह कैसे सुधर गया तो मुझे खुशी भी होती है और गर्व भी। अपने बेटे को ही नही, दूसरों के भटके बेटो को भी मैंने सही रास्ते लगाया है और कभी-कभार वर्षों बाद भी मुझे उन युवकों के पत्र मिलते रहते हैं।....ऐसे में जब मैं आज के भ्रष्ट अध्यापको को देखता हूँ तो कभी-कभी मेरे मन में ख़याल आता है कि उस पेशे को न अपना कर मैंने अपनी मूल प्रवृत्ति का ही गला घोंटा है और स्वयं किंचित विपन्न हुआ हूँ।

मैं उस जमाने को याद करता हूँ, जब मैंने वक्ता बनने की ठानी थी। शीशे के सामने खडे होकर भाषण देना सीखा था और कई बार हज़ारों के मजमे में भाषण दिये थे। उस थ्रिल की याद अब भी कभी-कभी आती है, जब श्रोता तालियाँ पीट उठते थे। आज जब किसी सभा अथवा गोष्ठी में जाना तो दूर, मैं महीनों घर से नही निकलता तो कभी-कभी मुझे अपने वक्ता की बहुत याद आती है।

फिर पत्रकारिता—वर्षों मैंने उस पेशे को मनोयोग से सीखा। सम्वाददाता से ले कर सम्पादन तक, कई मरहले पार किये। उस पेशे का सुख अपना सुख है। उसकी थ्रिल अपनी थ्रिल है। मेरे साहित्यकार ने मेरे पत्रकार से बहुत कुछ पाया है, लेकिन साहित्य के मुकाबिले मे

मुझे वह काम आसान लगा और मैं उसे छोड आया। सफल पत्रकारो के जीवन और उस जीवन के ग्लेमर, उनकी पहुँच, बडे-बडे राजनेताओ से उनके सम्पर्क, दूतावासो के निमन्त्रणो और उनकी विदेश यात्राओ की बात सोचता हूँ तो कभी-कभी एहसास होता है कि साहित्यकार के तपस्वी-ऐसे एकात जीवन को अपनाने में कैसे सुख को मैं छोड आया हूँ ?

जब मैं कॉलेज मे पढ़ता था, जालन्धर मे राय साहब भगतराम की बडी चर्चा थी। वे फ़ौजदारी के प्रसिद्ध वकील थे और न जाने कितने हत्यारो को उन्होने फाँसी के फन्दे से बचाया था। मेरे मन में फ़ौजदारी का वकील बनने की भी साध थी। अगर मैंने बी०ए० के बाद तत्काल लॉ पास किया होता तो शायद मैं आज फ़ौजदारी का प्रसिद्ध वकील होता। लेकिन लॉ मैंने १६३६ मे पास किया, जब मुझे कहानियाँ लिखते दस वर्ष हो चुके थे और मेरी कुछ कहानियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई थी, इसलिए विशेष योग्यता से कानून की परीक्षा पास करने, फौजदारी मामलो मे अपनी तमामतर रुचि और उस पेशे मे मिलने वाले तमाम सम्भावित मान-सम्मान, धन-वैभव के बावजूद मैंने उसे छोड दिया। आज जब कभी फौजदारी के किसी प्रसिद्ध वकील की चर्चा होती है, जो एक-एक पेशी के हज़ारो वसूल करता है तो कभी-कभी मुझे खयाल आता है कि जब मेरा दिमाग उस क्षेत्र मे बहुत चलता था, मैने क्यो उसे छोड दिया। क्या ऐसा सम्भव नही था कि मैं हत्यारो को न बचाता, पर उन लोगो की सहायता करता, जिन्होने हत्या न की होती और जो शक मे पकड लिये गये होते, क्योकि कानून तो इसी बात पर अवलम्बित है कि एक भी निर्दोष आदमी फाँसी न पाये, चाहे सौ हत्यारे छूट जायँ।

मुझे १६४१-४२ की एक घटना बार-बार याद आती है। यह उस जमाने की बात है जब रेडियो मे प्रोग्राम एसिस्टेण्टो को पब्लिक सर्विस कमीशन के आगे नही बैठना पड़ता था और बड़े बुखारी साहब अथवा उनके चहेते स्टेशन डायरेक्टर सीधे किसी को प्रोग्राम एसिस्टेण्ट

एप्वाइट कर देते थे। मैं उन दिनो आकाशवाणी दिल्ली मे मन्थली पेड आर्टिस्ट के तौर पर काम करता था। यद्यपि वेतन मेरा प्रोग्राम एसिस्टेण्टो जितना ही था; काम भी मेरे मन का था; पर मेरे कोई अधिकार नही थे, नौकरी पक्की नही थी और मुझे एक दिन के नोटिस पर जवाब मिल सकता था। तभी एक दिन दिल्ली के स्टेशन डायरेक्टर जुगल किशोर ने, जो बडे बुख़ारी साहब के घनिष्ट मित्र थे और मुझ पर प्रसन्न हो गये थे, मुझसे कहा कि यदि मैं आवेदन दे दूँ तो मुझे प्रोग्राम एसिस्टेण्ट के तौर पर ले लेंगे। मैने उनसे कहा कि मैं प्रोग्राम एसिस्टेण्ट नही बनना चाहता और वे कर सके तो मुझे २५ रु० तरक्की दे दें।... मुझे तरक्की मिल गयी, लेकिन मै पक्की नौकरी से नही बँधा—आज़ाद रहा। .. कभी-कभी मैं सोचता हूँ कि अगर मैंने उस दिन अर्जी दे दी होती तो उस वक्त, जब मेरे बाद आने वाले मेरे दोस्त डिप्टी डायरेक्टर जनरल हो कर रिटायर हुए हैं, मैं क्यो उस ओहदे तक न पहुँचता। फिर प्रोग्रामो मे दिलचस्पी रखने वाला स्टेशन डायरेक्टर कितने अच्छे नाटक, कविताएँ, वार्ताएँ नही लिखवा सकता! और कभी-कभी मुझे एहसास होता है कि उस अवसर को खोने मे मैंने क्या क्या नही खोया?

लेकिन साहित्य के अनुकरण मे मैंने दो ऐसी चीजें भी खोई है, जिनसे मैं सचमुच विपन्न हुआ हूँ। पहली—प्यार। दूसरी दोस्ती।

कई बार ऐसा होता है कि प्यार आदमी के रास्ते मे नही आता। उसे कोई ऐसा नही मिलता, जो उससे प्यार करे अथवा जिससे वह प्यार कर सके। कई बार अगूर ही खट्टे होते है। मेरी जिन्दगी मे बार-बार ऐसी युवतियाँ आयीं—सुन्दर और असुन्दर दोनो—जो मुझसे प्यार करती थी। दो-एक ऐसी भी थी, जिनसे मैं भी प्यार करता था, लेकिन जब-जब ऐसे मौके आये। मैंने निर्ममता से अपने आपको काट लिया। १९५३ मे, जब मैं मसूरी मे था, मेरे मालिक मकान की पत्नी ने, जो बहुत बढ़ी-लिखी और माडर्न थीं, मुझसे पूछा—'अश्क जी, आपने कभी प्यार किया है?' मैंने कहा—'नही!' उन्होने कहा, 'आप

पिटी यू।' याने मुझे आप पर दया होती है। मुझे स्वयं भी अपने आप पर कभी बहुत दया आती है, लेकिन कवि ने कहा है :

प्यार की एक समस्या होती है
(समय, शक्ति और अहं की कुर्बानी के अलावा)
आदमी खुल कर प्यार करता है तो और कुछ नहीं करता
आदमी प्यार का होता है तो और किसी का नहीं होता।

और मैं तो बहुत पहले साहित्य का हो गया था। तब से संकुचित प्यार का कैसे होता? प्यार की थ्रिल तो अभूतपूर्व है, लेकिन वह थ्रिल बार-बार मिले, इसके लिए बहुत कुछ की कुर्बानी देनी पड़ती है। मेरे जैसे व्यक्ति के पास, जिसने अपना जीवन साहित्य के लिए समर्पित कर दिया हो, प्यार के लिए कुछ भी नहीं बचता। ये पंक्तियाँ लिखते समय मेरे सामने कई सूरतें आ रही हैं और प्यार-भरे ऐसे क्षण, जिन्हे मैंने काट न दिया होता तो मेरी जिन्दगी कुछ दूसरी ही होती। मेरे मन मे और बहुत कुछ खोने की कसक नही है, लेकिन प्यार को खोने की कसक ज़रूर है। प्यार आदमी की ज़िन्दगी को भरता है, उसे सम्पन्न बनाता है प्यार के बिना आदमी की ज़िन्दगी सन्यासी की-सी ज़िन्दगी है, पर जिसे भगवान को पाना हो, उसके सामने अपने प्यार का गला घोटने के सिवा कोई चारा नही। फिर मेरे जैसे लेखक के लिए, जिसे कैंचियाँ और बेड़ियाँ प्रिय नही रही और जो सदैव बन्धनो से मुक्त होकर साहित्य-सृजन करना चाहता रहा। साहित्य-सृजन—जो समष्टि-चिन्तन और विश्लेषण के साथ-साथ आत्म-विश्लेषण भी है, आत्म-निरीक्षण और आत्म-मथन भी!

मैं स्वभाव से यार-बाश आदमी हूँ। दोस्तो मे बैठना, गप्प लगाना, चुहल करना—सब मुझे बहुत पसन्द है। न जाने अपने इस विनोदी और चुहलबाज़ की खुशी के लिए मैंने कितना समय और धन नही गँवाया, लेकिन जैसे-जैसे मैं साहित्य-क्षेत्र में बढ़ता गया, मेरा समय कम होता गया, मुझे अपने इस शौक पर भी अंकुश लगाना पड़ा। और आज स्थिति यह है कि मुझे अपने बंगले से बाहर निकले और कॉफ़ी-

हाउस या सिविल लाइन्ज तक गये महीनो बीत जाते है। मैं सुबह थोडी कसरत करता हूँ, दोपहर को एक घण्टा सोता हूँ और शाम को बरामदे मे सैर करता हूँ। शेष सारा वक्त मैं काम करता हूँ। उम्र घट गयी है। शक्ति क्षीण हो गयी है। काम बढ गया है। जो प्रोग्राम बना रखे हैं, उन्हे पूरा करने की उत्कण्ठा बढ़ गयी है, और मैं नितान्त अकेला हो गया हुँ—मित्र-विहीन, एकाकी, विपन्न !

०

यह तो हुई खोने की बात, जहाँ तक पाने की बात है, तो मैं सिर्फ़ यह कह सकता हूँ कि जिस अनुपात से मैं खोता गया हूँ, उसी अनुपात से पाता भी गया हूँ। एक बार मैं बंगलौर मे सत्य-साईं बाबा से मिलने गया। मैंने उनसे पूछा : "साईं बाबा, शास्त्रो मे लिखा है, पिछले जन्म के कर्मों का फल इस जन्म में मिलता है। तब यह बताइए : हमे कैसे मालूम हो कि जो कर्म हम करते जा रहे है, वह पिछले जन्म के किसी कर्म के फलस्वरूप है या नया है ?" साईं बाबा ने कहा, "अपने को जानो !" मैंने पूछा, "कैसे ?" बोले, "साधना करो, ध्यान लगाओ।" मैंने कहा, "मैं ध्यान लगाता हूँ तो मेरे दिमाग मे मेरी कहानियो और उपन्यासो के पात्र आने लगते हैं।" उन्होने अंग्रेज़ी मे कहा, "तब वही करो, तुम अपने काम के द्वारा ही भगवान को प्राप्त करोगे।"

मैं जानता हूँ, साईं बाबा मेरे प्रश्न का सीधा उत्तर देने से कतरा गये थे, लेकिन बात उन्होने ग़लत नही कही थी—'वर्क इज़ गॉड, एण्ड यू विल रीच गॉड थ्रू योर वर्क'—और मेरे लिए साहित्य अपने को जानने का और यूँ भगवान को पाने का माध्यम बन गया। जैसे तपस्वी संसार से अपने आपको काटता जाता है और भगवान से जुड़ता जाता है, मैं भी यदि एक-एक कर सब सुख छोड़ता गया हूँ तो बदले मे हर क्षण साहित्य से जुडता गया हूँ तथा कही और भी बड़ा सुख पाता गया हूँ। कोई लेखक यदि उसे सुख-संतोष न मिले, कभी मेरी तरह दिन-रात सृजन-रत नही रह सकता—विशेषकर उस वक्त, जब उसके सामने—रोज़ी की उतनी समस्या न रही हो। न जाने मेरे साथियो में और मेरे

बाद आने वालों मे कितने लेखक ख्यात होकर भी साहित्य-क्षेत्र को छोड गये। प्रकट ही उनके लिए दूसरे सुख ज्यादा लुभावने रहे होगे। साहित्य ने मुझे कहाँ और कैसे सम्पन्न बनाया है, यह बताने के लिए मुझे बहुत गहरे में जाना पड़ेगा और जितना खोने के बारे मे लिखा है उससे ज़्यादा पाने के बारे में लिखना पड़ेगा। यहाँ इतना ही कि ज़िन्दगी के हर दो-राहे पर यदि मैं दूसरे रास्तो को छोडता गया (जिन पर चल कर मुझे पर्याप्त धन और यश मिल सकता था और मैं साहित्य के रास्ते पर चलता रहा) तो इसीलिए कि हर बार जब मेरे सामने चुनाव की समस्या आयी, मुझे साहित्य का उद्देश्य हमेशा महत लगा और साहित्य-सृजन से मिलने वाला सुख अपेक्षाकृत कही बड़ा। साहित्य ने मुझे वे आँखें दी, जिनसे मैं अपने परिवेश को, अपने समाज को, ससार को, और स्वयं अपने आपको जान सका। और मैं इस प्रक्रिया मे सम्पन्न से सम्पन्नतर हुआ।

●

रख्श-ए-उम्र

●

गालिब का शे'र है :

रो में है रख़श-ए-उम्र कहाँ देखिए थमे ,
ने हाथ बाग पे है न पा है रकाब में।

ससार मे अधिकाश लोगो की गति तेज़ घोड़े पर बैठे हुए उस व्यक्ति-की-सी होती है, जिसके हाथ मे लगाम न हो और जिसके पैर रकाब पर न हो। नियति का घोडा उन्हे जहाँ ले जाय, वे चले जाते है। आप आम लोगो से मिलिए, उनसे पूछिए कि वे वास्तव मे क्या बनना चाहते थे और क्या बन गये ? तो आपको चकित कर देने वाले ब्योरे सुनने को मिलेंगे। विरले ही ऐसे होते है, जो अपनी इच्छा और रुचि के अनुसार कुछ बन सकते है। मैं अपने को उन्ही सौभाग्यशाली लोगों मे समझता हूँ।

मैं जब छठी कक्षा मे पढता था तो बड़ा आदमी बनूंगा, इसका मुझे विश्वास था, लेकिन किस क्षेत्र मे ?—यह तय नही था। मेरे पिता हमेशा नसीहत देते थे कि बेटे कोई भी पेशा इख्तियार करो, पर उसमे कमाल हासिल करो और वे फ़ारसी की एक मसल सुनाते थे :

'कसब-ए-कमाल-कुन कि अज़ीज़-ए-जहाँ शवी'

और समझाते थे कि किसी कसब याने पेशे को हाथ मे लो, अगर तुम उसमें निपुणता प्राप्त कर लोगे तो अपने आप लोकप्रिय हो जाओगे। उन्हे इस बात में कोई एतराज़ नही था कि उनके छै बेटो में से कोई गुण्डा निकले, वे सिर्फ़ यही चाहते थे, यदि वह गुण्डा भी हो तो शहर का सबसे बडा गुण्डा हो कि लोग कहें—अमुक का अमुक बेटा सारे शहर की यह की वो कर रहा है।

मैं अपनी सभी भाइयो मे सबसे कमज़ोर था। मुझे उन्होने दुनिय
से निपटने के सारे गुर बताये, लेकिन जोर उसी एक गुर पर दिया
कहा करते थे, अंग्रेजी मे एक मसल है

'ही इज़ अ जैक ऑफ आल ट्रेड्ज़, बट मास्टर ऑफ नन !'

और परामर्श देते थे, 'इसे ज़रा बदलो और—

बी अ जैक आफ आल ट्रेड्ज़ बट मास्टर ऑफ वन !'

जैसा कि मैं कही लिख चुका हूँ, यद्यपि मैं लड़कपन ही से कविता
कहानी लिखने लगा था, लेकिन मैं एक साथ बहुत कुछ बनना चाहत
था—अध्यापक, वकील, पत्रकार (एडीटर) रंगमच अभिनेता (बाद
जब फिल्मे आ गयी तो फ़िल्मी अभिनेता) आदि आदि... । मैंने ज़िन्दग
मे ये सभी पेशे अपना कर देखे। लेकिन सब कुछ करते और सा
अनुभव सँजोते हुए मुझे लगा कि मैं अपना सर्वश्रेष्ठ केवल लेखक औ
कवि के रूप मे ही दे सकता हूँ तथा इसी मे मुझे ज्यादा सुख मिलत
है। मैंने अच्छी-से-अच्छी नौकरी छोड़ दी, लेकिन अपनी टेक नही छोड़
और अन्ततोगत्वा मे लेखक ही बना।

लेखक बन पाऊँ, अपनी रुचि का लिख पाऊँ, प्रकाशको की दया
माया पर न रहूँ, दूसरो की इच्छानुसार मुझे न लिखना पडे, इसलि
मैंने प्रकाशन करने की सोची। फिल्म की दो साल की नौकरी में मैं
तेरह-चौदह हज़ार रुपया जोड़ा था कि लाहौर जा कर प्रकाशन क
सकूं। लेकिन इधर नौकरी छोडी, उधर मुझे टी० बी० हो गयी
सेनिटॉरियम में पडा था, जब देश विभाजित हो गया। मेरा अधिकां
सामान पाकिस्तान मे रह गया और जमा-पूंजी बीमारी को भेंट हो गयी
लेकिन मैंने हिम्मत नही हारी। इलाहाबाद आ कर अपनी पत्नी क
मदद से फिर प्रकाशन खोला—सरकार से कर्ज़ लेकर।

अजीब बात है कि उसी नाम से, जिससे कि पंजाब जाकर प्रकाश
खोलने की सोचता था। इस बात का पता मुझे बम्बई से पाठक ज
(श्री वाचस्पति पाठक) के नाम लिखे गये अपने एक पत्र से चला। ज
तक मैंने उस पुराने पत्र को पढ़ा नहीं था, मै यही सोचता था कि मैं

शरणार्थी अफसर के अनुरोध पर, वहीं शरणार्थी दफ़्तर मे 'एट द स्पर ऑफ ए मोमेण्ट' वह नाम सोचा था। हालाँकि उस पत्र से लगता है कि वह मेरे अर्ध-चेतन मे मौजूद था।

सरकार का ऋण हमने ब्याज समेत पाई-पाई चुकाया। दस वर्ष तक किताबो का बैग हाथ मे लिये मैंने पूरे देश की ख़ाक छानी, प्रकाशन को जमाया और आज पिछले १५ वर्षों से मैं केवल अपनी रुचि का काम करता हूँ—यानी जो मन मे आता है, वही लिखता हूँ।

पिछले पैंतालिस वर्षो से मैं एक उपन्यास लिख रहा हूँ। अब तक उसके चार खण्ड लगभग ३००० पृष्ठ लिख ले गया हूँ। उसका पाँचवाँ और अन्तिम खण्ड लिखना शुरू कर दिया है और यदि उम्र ने थोडी भी मुहलत और दी तो तीन-चार साल में पूरा कर ले जाऊँगा।

प्रश्न उठता है कि क्या मैं 'महान' बन गया हूँ? इसका जवाब कोई लेखक नही दे सकता। इसे केवल समय बता सकता है। यहाँ मतलब सिर्फ इससे है कि मैंने जो चाहा, वही किया और कोई बाधा स्वीकार नही की। मैंने यथाशक्य जिन्दगी के घोड़े की लगाम अपने हाथो मे रखी है और पैरो को मजबूती से रकाबो में टिकाये रखा है। मिथ्या के पीछे मैं भागा नही हूँ और जिन्दगी के घोड़े को जहाँ मैं ले जाना चाहता था; वही ले आया हूँ।

आप कह सकते हैं कि यही मेरी नियति थी। इसे मैं मान लेता हूँ। मैं सिर्फ़ यही कहना चाहूँगा कि इस नियति को मैंने बहुत पहले पहचान लिया था और मैंने सिर्फ यह किया है कि उसके आगे नत-शिर हो गया हूँ।

मैंने शुरू मे ग़ालिब का शे'र उद्धरित किया था। जिन्दगी के संदर्भ में आदमी की विवशता उसमे स्वत: स्पष्ट है। उस विवशता मे मेरा कतई विश्वास नही। लाख निराशा हो, मैंने कभी ग़ालिब की तरह नही सोचा। नोबल पुरस्कार विजेता रूसी उपन्यासकार सोल्जनित्सिन का 'गुलाग' पढ़ते हुए अचानक मेरी नजर ५८१ वे पृष्ठ पर अटक गयी। सोल्जनित्सिन ने वहाँ गीता-का-सा सूत्र दिया है और मेरे मन

की बात कही है। गालिब के शे'र के सदर्भ मे सिर्फ कुछ पक्तियाँ बदल कर मैं उसका उल्लेख करना चाहूँगा—

'ज़िन्दगी और उसकी तमाम पहेलियो के सिलसिले मे महत्व की बात सिर्फ इतनी है कि इल्यूज़न—मिथ्या—के पीछे मत भागो—याने धन-वैभव और मान-प्रतिष्ठा के पीछे !—यह सब साल-ब-साल, दशक-दर-दशक भयंकर तनाव भरी भाग-दौड के बाद प्राप्त होता है और कोई दुर्घटना अथवा मृत्यु क्षण भर मे इसे छीन ले जाती है।....ज़िन्दगी के घोड़े पर स्थिर और स्थित-प्रज्ञ भाव से बैठो। दुर्भाग्य से मत डरो, न सौभाग्य की कामना मे खून सुखाओ। दुख अथवा सुख एक ही चीज़ के दो पहलू हैं। कडुवा और दुखद हमेशा नही रहता, न मीठा और सुखद ज़िन्दगी के प्याले को लबालब भरता है—यथेष्ठ है यदि हम सर्दी मे शीत से यख नही होते। भूख-प्यास हमारी आँतो मे अपने नाखून नहीं गडाती। यदि हमारी कमर सीधी रहती है। हमारी बाहो का लचकीलापन कायम रहता है। हमारी दोनो आँखें देखती हैं। दोनो कान सुनते है—तब किससे कैसी ईर्ष्या और क्यो ? दूसरों के प्रति ईर्ष्या आदमी को अन्दर ही अन्दर खा जाती है। मिथ्या के पीछे भाग-दौड हमारे आदर्शों को आँखो से ओझल कर देती है। यदि हम दृष्टि साफ रखते है। धन-वैभव और मान-प्रतिष्ठा की हकीकत को समझते हैं, स्थिर और स्थित-प्रज्ञ भाव से ज़िन्दगी के घोडे पर बैठते है तो कोई कारण नही कि हम अपने आदर्श की मंज़िल पर न पहुंच जायँ।'

सिर्फ़ एक बात इस सिलसिले मे और कहना चाहूंगा। रूस ही के एक दूसरे नोबल पुरस्कार विजेता कवि बोरिस पारस्तरनाक ने एक कविता मे लिखा है—

'ज़िन्दगी जीना खेत को पार करने-सा (आसान) नही।'

मानता हूँ। ज़िन्दगी मे मज़िल पर पहुंचने के लिए खेत पार करने-का-सा सीधा मार्ग नहीं है। विपत्तियो और दुर्घटनाओ के थपेड़े आपको कभी मार्ग के इधर और कभी उधर फेंक सकते हैं, लेकिन मेरा विश्वास

है कि यदि आपकी आँखे मञ्जिल पर है तो आप अन्तत वहाँ पहुँच ही जायेगे। अपने इस विश्वास को मैने एक शे'र में पंक्तिबद्ध कर दिया है--

फेंक दें चाहे हवादिस राह से हर बार दूर,
जायगी मञ्ज़िल कहाँ, जब जिन्दगी मञ्जिल में है।

•

हाथ यूँ न रहे, यूँ रहे

●

इधर कई युवक कथाकारो अथवा शोध छात्रो ने मुझसे इन्टरव्यू लिये हैं। दूर-पार से लेखक अथवा पाठक भी मिलने को आते रहते हैं। सीधे या घुमा-फिरा कर वे एक बात जरूर पूछते हैं।—'क्या कारण है कि इतने सारे लेखक जो गत बीस-तीस वर्षों मे मेरे साथ रहे, जिनकी मैने कई तरह सहायता की, जिन्होने लिखित अथवा मौखिक रूप से मेरी प्रशंसा भी की, आज मेरी निन्दा करते घूमते है? फिर क्या कारण है कि मैं अपने साथियो के इस व्यवहार से जरा भी नही चेतता, और एक मित्र के परे चले जाने पर किसी दूसरे को साथ चिपका लेता हूँ?'

मैं कभी इस प्रश्न का एक उत्तर नही देता। प्रश्नकर्ता जैसा होता है—निकट का या दूर का, मित्र अथवा शत्रु भाव रहने वाला, जिज्ञासु अथवा स्कैण्डल मे सुख पाने वाला—वैसा ही जवाब मैं दे देता हूँ और यही कारण है कि पुराने लेखको के साथ मेरी 'लडाइयो' और नये लेखको के साथ मेरी 'दोस्तियो' को ले कर तरह-तरह की अटकलें लोगो ने लगायी हैं और मेरे अथवा मेरे साथी लेखको के आचरण की विभिन्न व्याखयाएँ लोगो ने की है। किसी ने मेरे स्वभाव को दोष दिया है, किसी ने जमाने की तोताचश्मी को! साहित्य-जगत मे फैले प्रवाद, मेरे साथ भेंट वार्ताओं मे पूछे गये प्रश्न अथवा मेरे व्यक्तित्व पर लिखे गये संस्मरण उस संदर्भ में लोगो की उलझन के साक्षी हैं।

कुछ वर्ष पहले मैं एक शाम कॉफ़ी हाउस मे मानव जी (स्व० विश्वम्भर मानव) के साथ बैठा था तो बात-बात मे उन्होने फिर वही बात कही जो वे पहले भी कई बार कह चुके थे कि मैं हमेशा गलत

आदमी चुनता हूँ, गलत लोगो की तारीफ करता हूँ, गलत लोगो को मदद देता हूँ और ईसीलिए इतनी मार खाता हूँ। उन्होने मेरे एक पुराने मित्र का उल्लेख किया, जो उनके कथनानुसार एक मासिक मे दस वर्ष से गुमनामी की ज़िन्दगी गुज़ार रहे थे कि मैंने उन्हें न केवल अपने साथ चिपका लिया; जा-बे-जा उनकी प्रशसा की, वरन् सारा ज़ोर लगा कर एक-के-बाद-एक अच्छे मासिक पत्रो का उन्हें सम्पादक बनवा दिया, उनका डिङ्डम पीटा; उन्हे नेता बना दिया, हज़ारो रुपया बर्बाद करके उनकी कूडा पुस्तकें छापी और जब वे मुझसे रुष्ट हुए तो उन्होने मुझ पर और मेरे परिवार पर जी-भर कीचड उछाला....। और मानव जी ने दया-दृष्टि से मेरी ओर देखते उस फतवे-भरे स्वर मे जो उन्ही का हिस्सा था, मुझसे कहा कि आपको आदमी की जरा भी पहचान नही। एक नये युवा मित्र का उल्लेख करते हुए उन्होने मुझे सचेत किया, 'मेरी बात याद रखिएगा, आपको यह सबसे ज़्यादा तकलीफ पहुँचायेगा।'

०

मानव जी से कॉफ़ी-हाउस मे जो बातचीत होती थी, मैंने कभी उसे गम्भीरता से नही लिया। कई बार तो वहाँ एक-दूसरे की बात काटने के लिए ही तर्क-वितर्क होते है, कभी एक-दूसरे को बनाने के लिए। कभी-कभी तो बात-बात मे कॉफ़ी कटु व्यंग्य-वाण भी चल जाते हैं, जो यदि कॉफी हाउस के बाहर चलें तो हमेशा-हमेशा के लिए मर्म को भेद जायें, लेकिन कॉफी हाउस मे उन व्यंग्य-वाणो को सहज भाव से स्वीकार कर लिया जाता है। लेकिन उस शाम जाने मानव जी के स्वर की आत्मीयता के कारण अथवा उनकी आँखों मे मेरी बेसमझी के लिए जो दयाभाव था, उनकी वजह से अथवा उनके होंटो पर जो मुस्कान थी, उसके कारण मैं हठात् सीरियस हो गया। मैंने उनसे कहा, 'सुरेन्द्रपाल भी दिल्ली जाने से पहले प्राय: यही बात कहा करते थे कि मुझे आदमियो की पहचान नही। अजीब बात है कि हम लोग (मैं और मेरे भाई) अपने पिता के बारे में यही बात कहा करते थे।'

और मैंने मानव जी को अपने लडकपन और जवानी की कुछ बातें बताते हुए अपनी बात कही, क्योंकि मानव जी की बात सुनकर हठात अपने पिता की जिन्दगी मेरे सामने आ गयी थी। फक्कड, मनमौजी, क्षण मे जीने और खाने-पीने तथा मौज उडाने वाले ! पिता कभी बाहर से घर आये हों और दो-चार यार-गार उनके साथ न आये हों, मैंने कभी नही देखा। वे कभी अकेले नही रहते थे। ऐसे दूर-दराज़ स्टेशनो पर, जहाँ मीलो तक कोई गाँव अथवा कस्बा न होता था, उनके साथ खाने-पीने और मौज उडाने वाले आ जुटते थे। 'भैड़े-भैड़े यार मेरी फत्तो दे,[1]' उनके बारे मे माँ प्रायः कहा करती थी और हम उनके साथ जुटने वाले यारो को कभी पसन्द न कर पाते थे। मेरे पिता के दोस्तो मे ऐसे शरीफ और इज़्ज़तदार लोग भी थे, जो सोने से पहले एकाध पैग लेते थे और कभी मजलिस में नही पीते थे, लेकिन मेरे पिता उन्हे कजूस या ढोगी या रियाकार कहते थे। आज सोचता हूँ और उन बीते दिनो की याद करता हूँ तो लगता है कि उन्हे अकेलापन पसन्द नही था। अन्य कोई न मिलता था तो वे स्टेशन के अपने नौकरों को साथ बैठा लेते थे और उन्ही के साथ पीते-खाते, चहकते और गाते थे। मेरी तबीयत मे भी शायद उन्ही के खून का असर है। अकेलेपन से मुझे भी वहशत होती है। मित्रो से बातें करना और गप्पें लगाना मुझे भी वैसा ही प्रिय है। पिता तो खैर पीते-खाते और मौज उडाते थे और इसीलिए अपने साथ वैसे ही लोग जुटा लेते थे। मै सिवा लिखने के दूसरा कोई शौक नही रखता। ज़ाहिर है कि ऐसे मे उन लेखकों की सगति मुझे पसन्द है, जो अच्छा लिखते हैं, जिनकी रचनाएँ पढ कर मुझे खुशी होती है और साहित्य की किसी नयी धारा पर जिनसे बातचीत की जा सकती है। मेरे साथ ऐसे भी लेखक रहे हैं जो भले ही अच्छा नही लिखते थे, पर अच्छा लिख सकने की सम्भावना जिनमें थी अथवा जिनके साथ घूमना-फिरना अथवा साहित्य की किसी विधा

---

१. मेरी फत्तो (फ़ातिमा के सक्षिप्त) के बुरे-बुरे यार है।

पर बात करना या उनकी और अपनी साहित्यिक योजनाओ पर बहस करना मुझे रुचिकर लगता था और मै अनायास उनके साथ उठने-बैठने लगता था। पिता के बारे मे माँ कहा करती थी कि जैसे शहद पर मक्खियाँ आ बैठती हैं, वैसे ही न जाने कहाँ से खाने-पीने वाले उनके साथ आ जुटते है। हो सकता है पिता का कोई गुण अथवा दोष मेरे यहाँ भी हो और इस बात के बावजूद कि कभी मेरे निकट रहने वाले मेरी निन्दा करते घूमते है और मेरे बारे मे तरह-तरह के प्रवाद साहित्य-क्षेत्र मे प्रचलित है, नये लेखक अथवा मित्र मेरे निकट आ जाते है। जिसकी रचना अथवा सगति मुझे अच्छी लगती है, मैं उसके साथ उठने-बैठने लगता हूँ। उसे कही मेरी ज़रूरत होती है तो मैं उसके साथ हो लेता हूँ। यथाशक्य उसका रास्ता आसान कर देता हूँ। वह आगे बढ़ जाता है, उसे मेरी ज़रूरत नही रहती या वह कोई ऐसी बात चाहता है जो मेरे सिद्धान्तो के विरुद्ध होती है या मुझे ग़लत लगती है और मैं नही कर पाता और वह मेरा विरोधी बन जाता है और मेरी निन्दा करता घूमता है तो मैं चिन्ता नहीं करता। कोई नया साथी आ मिलता है और मैं उसके साथ हो लेता हूँ और यह क्रम पिछले चालिस वर्षों से जारी है। कुछ ऐसे भी दोस्त हैं, जिनके साथ मेरी घनिष्टता आज भी वैसी ही अक्षुण्ण है, जैसी शुरू में थी, लेकिन अधिकाश मित्र दूर चले गये है और कुछ ऐसे भी हैं जो मेरी घोर निन्दा करते भी घूमते है।

जब मानव जी ने मेरे उस मित्र को ले कर ताना दिया था जो आठ वर्ष मेरे साथ रहे और आज मेरे खिलाफ़ जिहाद बोले हुए है तो मैंने कहा था कि भाई, मैं उन्हें बुलाने नही गया था। वे मेरे निकट आ गये और मैंने उनका प्रचार-प्रसार किया तो बुरा नही किया। उनके भ्रम का मेरे पास कोई इलाज नहीं। चूँकि उन्होने बड़ी घटिया बात की है और मेरे खिलाफ़ अपना क्रोध मेरी पत्नी के विरुद्ध लिख कर निकाला है, इसलिए मैंने उन्हे अपनी ज़िन्दगी से काट दिया है, मैं तो कभी उनके यहाँ नही जाऊँगा, लेकिन कल यदि फिर उन्हें मेरी ज़रूरत

पड जाय और वे चाहें तो अपनी नाराज़गी के बावजूद मैं फिर उनकी मदद करूँगा, क्योंकि मेरे पिता यही करते थे ।

०

मैं नही जानता दूसरे लेखको की जिन्दगियो मे उनके माता-पिता का कितना हाथ है, पर मैं जो कुछ भी भला-बुरा हूँ, उन्ही का बनाया हुआ हूँ । मेरे पिता के छै बेटे थे, लेकिन इस पर भी वे हर साल मुहल्ले के किसी-न-किसी युवक को अथवा अपनी महफिलो मे आ जुटने वाले किसी पिछलगुए को अपना नया बेटा घोषित कर देते थे । और उनके बेटो की कोई गिनती नही थी । प्रकट ही ये बेटे उनके साथ खाने-पीने वाले, उनकी जा-बे-जा बातो का समर्थन करने वाले होते थे । हर नये स्टेशन पर उनका कोई-न-कोई नया बेटा बन जाता था । उनके कुछ बेटे तो उनसे पाँच-सात वर्ष ही कम थे । चूँकि कई बार वे अपना सारा वेतन उन पर उडा देते थे, इसलिए उनके छै असली बेटों को पालने और पढाने में माँ को बेइन्तेहा कठिनाई का सामना करना पडता था । माँ को मायके से भारी ज़ेवर मिले थे । मैं नहीं जानता उसने कभी उन्हें पहन कर देखा हो । सुहाग की निशानी केवल चाँदी के दो पतले कडे ही मैंने हमेशा उसकी कलाइयो पर देखे । वे ज़ेवर तो हमेशा मुहल्ले की किसी-न-किसी साहूकार-महिला के यहाँ गिरवी रखे रहते थे । जब पिता को ज़रूरत पडती थी या किसी बच्चे के प्रवेश-शुल्क की समस्या खडी होती थी, वह एक-न-एक ज़ेवर गिरवी रख देती थी और धीरे-धीरे कर्ज़ उतार कर उसे छुडा लेती थी । पिता की महफिलो मे आने वाला हर नया बेटा या मित्र 'श्रेष्ठ' होता था । उसकी श्रेष्ठता की घोषणाएँ करते हुए वे उसकी मदद करना अपना फ़र्ज़ समझते थे और फलस्वरूप माँ के सभी ज़ेवर किसी-न-किसी के यहाँ गिरवी पड़े रहते थे । पिता स्टेशन मास्टर थे और पुराने ज़माने का स्टेशन मास्टर स्टेशन का बादशाह होता था और फिर वे अफ़सरो को खूब खिलाते-पिलाते थे और अच्छे आमदनी वाले स्टेशनो पर बदली करा लेते थे, इसलिए माँ किसी न किसी तरह उनसे रुपया ले कर गहने छुड़ा लेती थी । लेकिन

जब तक मैं जालन्धर रहा—याने डिग्री लेने तक—मैंने कभी माँ को कोई गहना पहने नही देखा ।

जब हम बडे हो गये तो पिता के कृत्यो को ले कर सोचने-समझने और दबी जबान म प्रतिवाद करने लगे। माँ हमारे मुँह से पिता के खिलाफ एक शब्द भी सुनना गवारा नही करती थी। हालाँकि वे घर मे परायी स्त्रियाँ ले आते थे। दीवाली के दिनो मे जुआ खेलते थे और हमेशा हारते थे । जब जालन्धर आते थे बाजार शेखाँ जरूर जाते थे और किसी-न-किसी साधु या श्रेष्ठ पुरुष की भी मदद करते रहते थे, पर माँ इसमे उनका दोष न समझती थी और कहती थी कि शैशव मे माँ का साया उठ जाने से वे कुसंगति मे पड गये और बिगड गये और हमे समझाती थी कि उन्हे बदलने के बदले हम यही करे कि किसी व्यसन को निकट न फटकने दे ।

पिता मँझले कद के, गोल-मटोल चेहरे और नीबू-टिकाऊँ मूँछो वाले गठे हुए बदन के हृष्ट-पुष्ट व्यक्ति थे। उनकी खूँख्वार और उद्दण्ड आवाज़ मे बला की कडक थी । उनके सामने आँख उठाने का भी किसी बेटे को साहस न था । मैं भाइयों में सबसे पतला-दुबला और बीमार था और स्वभाव से विद्रोही । कॉलेज मे जाने के बाद मेरा विद्रोह और भी उभर आया था और मैं माँ से बहस करने लगता था। ऐसे मे एक दिन माँ ने कहा—'बेटा घर मे जो कुछ है, सब उन्ही की कमाई का है । पैसा तो वे अपने पास रखते नही। जो उनके पास बचता है, ला कर दे देते हैं । मैंने तुम सब को पढ़ाया-लिखाया और योग्य बनाया है तो उन्ही की कमाई से । जेवर गिरवी रखती हूँ तो उन्ही की कमाई से छुडाती हूँ । तुम लोग जब कमाओगे और हमारे हाथ पर ला कर रखोगे और तुम्हारे पिता उड़ायेंगे, तब कहना ।'

माँ के मजहब में पति अथवा पिता के खिलाफ़ सपने मे भी सोचना अधर्म था । इसलिए एकाध बार माँ से बहस करके मैं चुप हो गया । वह कुछ ऐसे सरल भाव से जवाब देती थी कि कोई तर्क न सूझता था। लेकिन पिता के उन बेटो और भाइयो और यारों के खिलाफ़ हमारे

मन मे जबरदस्त क्रोध और विद्वेष था । मेरे दो छोटे भाई अखाडे जाते थे और बडे तगडे थे । इसलिए माँ की तरफ से ज़रा-सी छूट या शह होती तो हम उन्हे ऐसा मज़ा चखाते कि पिता के लाख बुलाने पर भी वे हमारे घर का रुख न करते, लेकिन माँ की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी कर सकना हमारे लिए कठिन था । इसी कारण लडकपन से जवानी तक हमने बहुत सहा । जिन लोगो से हम दिल मे सख्त नफरत करते थे, पिता की खुशी के लिए उनके चरण छूते थे, उनके लिए हुक्का ताज़ा करते थे और दौड-दौड कर बाज़ार से सामान लाते थे । हमारे मन मे कुछ वैसा ही कलक था, जो कभी-कभी मेरे बेटो अथवा निकटस्थ आत्मीय मित्रो के मन में मेरे प्रति हो जाता है । हम भी प्राय यही कहा करते थे कि उन्हें आदमियो की पहचान नही है । क्योकि पिता के वही मित्र जो उनकी महफिलो मे खाते-पीते और मौज उडाते, उनकी तारीफे करते और पैर दबाते थे, उनकी पीठ पीछे न केवल उनकी निन्दा करते थे, वरन् उनके परिवार को परेशान भी करते थे । जब माँ से कुछ भी कहना बेकार साबित हुआ तो एक दिन पिता जी का मूड देख कर, साहस के साथ, दबी ज़बान मे मैंने उनके सामने मन की बात रखी ।

मेरे पिता ने उत्तर में ऐसी बात कही कि मैं लाजवाब हो गया— 'अपना और अपने परिवार का पेट तो पशु भी भरते हैं,' उन्होने कहा, 'मर्द वही है जो चार आदमियो को खिला कर खाये । कोई मुझसे बाप बन कर तो नही खाता, बेटा बन कर ही खाता है । मैं भगवान से सदा यही मनाता हूँ कि मेरा हाथ यूँ न रहे (और उन्होने माँगने के अन्दाज़ मे सीधा हाथ फैला कर दिखाया) बल्कि यूँ रहे (और उन्होने पाँचो उँगलियाँ जोड कर, देने के अन्दाज मे हाथ को उलट दिया ।)

बात मेरे मन में खुब गयी और वह क्षण हमेशा-हमेशा के लिए मेरे मन मे अकित हो गया । मै ता न पिता की तरह खाता-पीता और मौज मनाता हूं, मा ने किसी व्यसन को हम छहो भाइयो के निकट नही फटकने दिया और जैसा मैंने कहा, केवल लिखने के सिवा मुझे कोई शौक नही है । अपने बच्चो का पेट काट कर और कर्ज ले

कर किसी की मदद करना, उन तकलीफो के कारण जो पिता की इस उदारता के कारण (यद्यपि उसके लिए भी मेरे मन मे श्रद्धा है) हमने बचपन और लडकपन मे सही, मुझसे नही हो सका । लेकिन पिता की बात का सत्य मैंने दूसरे अर्थों मे ज़रूर अपनाया है और यदि कोई मेरे यहाँ मदद के लिए आया है (और ज़रूरी नही कि मदद पैसे की ही हो) मैं कर सका हूँ तो मैंने ज़रूर की है और कई बार व्यक्तिगत सकट मोल लेकर भी की है और बदनामी की परवा नही की। पिता की बात को दूसरी तरह रखूं तो कहूँ कि अपनी तथा अपनी रचनाओं की तारीफ तो सभी करते है, मर्द वही है जो दूसरों की अच्छी रचनाओ की भी खुले दिल से प्राशंसा कर सके और मुझे रचना अच्छी लगी है तो मैंने मित्र-शत्रु की परवा नही की और जी भर दाद दी है ! मेरे पिता भी यही करते थे । मांगने पर वे शत्रु की मदद को जा खड़े होते थे । जिन से लडते थे, उनकी मदद करते थे । जिस बात को ले कर लडाई थी, उसे जारी रखते थे और मैंने भी ज़िन्दगी भर यही किया है। लोग अपने व्यक्तिगत मानदण्डो के अनुसार इस सब मे मेरी गणनाएं या बेसमझी देखते है और मेरे कृत्यो की अलग-अलग व्याख्याएँ करते हैं तो मैं क्या कर सकता हूं। पिता के शब्दो मे, भगवान से मैं भी यही मनाता हूँ कि मेरा हाथ यूँ न रहे यूँ रहे !

●

इलाहाबाद : भावना के संदर्भ

अश्क जी प्रयाग को आप किस भावना मे व्यक्त करेंगे ?

भावनाएँ हमेशा सब्जेक्टिव और व्यक्ति सापेक्ष होती हैं। किसी शह
मे किसी व्यक्ति को जितना सुख और दु.ख मिलता है, उसके अनुसा
उस शहर के बारे में उसकी भावना बनती है। कोई मित्र न हो त
पेरिस भी वीराना लगता है। इसके बरअक्स किसी स्नेही की सगति
वीराने को गुलज़ार बना देती है।

मैं इलाहाबाद मे आज लगभग ३५ वर्षों से हूँ। चाहिए तो यह
था कि मैंने यहाँ कुछ ऐसे दिन बिताये होते, जिनके अम्लान सुख की
स्मृति मेरे सूने क्षणो को सुखद बना देती, लेकिन यहाँ के साहित्यिक
माहौल, अधिकाश साहित्यकारो की ग्रामीण पृष्ठभूमि, भयकर अह
कुण्ठा, ईर्ष्या तथा मेरे पजाबी खुलेपन और श्रमशीलता की वजह से
उपजने वाले विरोध और सघर्ष के कारण वैसे निर्मल सुख की एक भी
स्मृति नही है।

मैं १९४८ मे यहाँ आया—दो मित्रो के कारण, जो लाहौर, दिल्ली,
बम्बई मे दिनो-हफ्तो मेरे यहाँ बिल्कुल घर के-से सदस्य की तरह आक
रहते थे। जब मैं इलाहाबाद आया तो उनमे से पहले ने दूसरे या तीसरे
ही दिन सकेत किया कि मैं उनके यहाँ नही रह सकता, कि दूसरे मित्र
का बडा बँगला है, वहाँ मुझे सुविधा रहेगी। दूसरे मित्र ने शरण दी

---

१. यह साक्षात्कार टाइम्स आफ इण्डिया की प्रतिनिधि श्रीमती गरिम
शुक्ल ने अश्क जी से इलाहाबाद में लिया था।

पर ढाई महीने मे एक बार भी मेरे कमरे मे झाँक कर खैर-खबर नही ली। ऊपर से उनके साथ रहने वाले एक 'महान' आधुनिक कवि ने पहले मुझे अपनी सरपरस्ती मे लेने की कोशिश की, लेकिन समान-व्यवहार चाहने पर बार-बार मुझे अपमानित करना चाहा। मैं वहाँ से उठ कर 'साहित्यकार ससद' गया। तब मेरे प्रिय अग्रज कवियो—महादेवी, पंत, निराला ने ऊपरी स्नेह प्रदर्शन के बावजूद ऐसा तकलीफ़देह व्यवहार किया, जिसकी स्मृति-मात्र से आज भी मेरा .खून खौल उठता है (निराला तो विक्षिप्त थे, उन पर क्या गुस्सा, लेकिन भगवती बाबू और अन्य जिन मित्रो ने उन्हे बहका कर मेरा और मेरी पत्नी का अपमान कराया, उन्हे क्या कहूँ) बीच की पीढ़ी के दोनो खेमो के लेखको ने इस संदर्भ मे कोई कसर नही उठा रखी और अन्त मे नयी पीढ़ी के एक मित्र ने (जिनकी काफ़ी पेचेदगी-भरी शादी मैंने जोखिम उठा कर करा दी; उनकी मर्मान्तिक बीमारी में घर भर को लगा दिया, मिलिट्री द्वारा मकान खाली करने का नोटिस मिल जाने पर ब्रिग्रेडियर को समझा कर जिन्हे आवास दिलाया, इंटरव्यू मे बैठ सकें, इसलिए अपनी किताब के लिए लिया गया कागज़ उनकी पुस्तक पर लगा दिया) एक निनान्त तुच्छ स्वार्थ और परम कायरता मे मेरी पीठ मे छुरा भोंक दिया। इन सब लोगो से मैंने स्नेह भी पाया और उनके साथ सुख के दिन भी बिताये हैं, लेकिन जो थोडा बहुत सुख मिला, उसके मुकाबले में मन पर ऐसी खराशे लगी हैं, जो अनचाहे, अजाने सदा टीसती रहती है।

लेकिन प्रयाग में आप को कुछ तो अच्छा लगा होगा।

जहाँ तक शहर के शान्त वातावरण, इसके प्राकृतिक सौंदर्य और इसकी बनावट का सम्बन्ध है, मुझे ऐसा शहर भारत भर में दूसरा नहीं मिला। मैं लाहौर, दिल्ली और बम्बई जैसे धम-धम करते कास्मोपालिटन नगरो मे काफी समय गुजार चुका था, जब मैंने इलाहाबाद आने का फ़ैसला किया। बन्ने भाई (स्व० सज्जाद ज़हीर) ने सुना तो बोले, 'अश्क तुम वहाँ मत जाओ, इट इज अ ह्यू.ज विलेज !' इलाहाबाद

सचमुच तमाम शहरी सुविधाओ के बावजूद एक बहुत बडे फैले
गाँव-अस है और शायद इसीलिए यह अद्वितीय है। पैंतिस वर्ष
गुज़ारने के बाद कह सकता हूँ कि साहित्य-सर्जना के लिए इससे बेह
दूसरा शहर नही है। रेलवे लाइन के इधर पुराने शहर का निह
गुजान, भयंकर भीड-भम्भड, शोर-गुल, धूल-गर्द से भरा इल
और ओवरब्रिज के पार अत्यन्त सुनियोजित सिविल लाइन्स—च
साफ-सुथरी सडकें, दोनो किनारे वाटिकाएँ, घने छतनार पेड
उसके साथ लगी मिलिट्री लाइन्ज का एकात, सूना, साफ सुथरा, द्रो
घाट तक मीलो फैला इलाका। उलझे हुए विचारो को सुलझ
अस्पष्ट थीम्ज को स्पष्ट करने के निमित्त एकान्त लम्बी सैरो के
उपयुक्त ! कोई घनिष्ट अन्तरग मित्र साथ हो तो चाँदनी रातो
स्वप्निल वातावरण, फ़रवारी-मार्च की आवारा हवाओ मे सडको
झडते-पत्तो के ढेर, अप्रैल-मई मे आकाश को रगते गुलमोहर और
के पेड, गर्मियो की लू का ताप हरता-सा पीला अमलतास ! फिर
दो नदियाँ—एक अपनी परिधि मे ठहरी गहरी गम्भीर सुनीला, दूस
गौरा—चचल-चपल गतिशील, हर साल किनारे तोडती, पुलि
बनाती, न जाने कितनी शताब्दियो से जन-जन के पाप-सताप अ
निर्मल जल मे बहा कर उन्हे सुख सन्तोष देती !....उसके किनारे उ
झूसी, इधर किले के सामने आँखो की तृष्णा बुझाने वाले दृश्य ! गर्मि
के ताप मे शाम बलुआघाट या गऊघाट से नाव पर बैठ कर सगम
जाइए, वहाँ गंगा के पावन जल मे स्नान कर, वही तख्तो पर बैठ
खाना खाइए और नौका मे वापस आइए। इधर दारागज के प
नागवासुकी का कोना—बरसात मे सामने सागर का-सा दृश्य अ
सर्दियो मे मीलो तक फैला धानी विस्तार—फिर रसूलाबाद और महदौ
और शिव कोटी की गंगा, सुजावन भगत की जमुना—इलाहाब
मे देखने वाली आँख के लिए बहुत ही सुन्दर नज़ारे है। आदमी
सके तो बड़े-बडे शहरो मे अनुभव बटोरे और इस शहर के एका
वातावरण में आकर लिखे।

आपके साहित्य सृजन के लिए इस शहर का योगदान ?

जैसा मैंने कहा, मैं चूँकि जालन्धर, लाहौर, शिमला, दिल्ली और बम्बई की ज़िन्दगी के अगणित अनुभव बटोर कर, लगभग आधी ज़िन्दगी गुज़ारने के बाद यहाँ आया, मुझे यहाँ का शान्त एकान्त अपने सृजन के लिए बहुत उपयुक्त लगा। लाहौर, दिल्ली और बम्बई मे बहुत लालच हैं। सुख-सुविधा के लिए स्पर्धा है।—इलाहाबाद मुख्यत: क्लर्कों, वकीलो, अध्यापको और लेखको—याने बुद्धिजीवियो का शहर है। समाचार-पत्र यहाँ से निकलते है, जो लेखको को ज़्यादा पारिश्रमिक नही दे सकते। छोटा-सा रेडियो स्टेशन है—सुख-सुविधा के लिए उतनी स्पर्धा यहाँ लेखकों मे नही। न जाने कितनी शताब्दियो से प्रयाग साहित्य, सस्कृति का केन्द्र रहा है। दशको अंग्रेज़ी व्यवस्था के विरोध का केन्द्र रहा है। अपने शहर मे जन्मे-पले, ससार द्वारा प्रशंसित जिन प्रधानमन्त्रियो पर इसे गर्व होना चाहिए था, उनका सर्वाधिक विरोध यहाँ रहा है और उसका खमियाज़ा भी इस शहर ने भरपूर चुकाया है। सो यहाँ के साहित्यकारो का अपना तेवर है। बड़े-से-बड़े को यहाँ अँगूठे पर गिनते हैं। भयकर सितमज़रीफ़ और ज़ालिम लोग हैं।' परम-ज़ायकातत्व,' भोजन करना,' 'चरना,' 'लू लू बोलना' यहाँ के आम शब्द हैं। कोई परम ज़ायकातत्व मिल जाय तो उसका भरपेट भोजन करना, कोई खुली चरागाह मिल जाय तो उसे निर्द्वन्द्व चरना, गोष्ठियों में बड़ों-बड़ों का लू लू बोल देना, अपने सामंती अहदीपन में ज़्यादा कुछ न लिखना और इस पर भी किसी को न गिनना—यहाँ के कुछ लेखकों का आम वतीरा है। बड़े-से-बड़े को उखाड़ने में यहाँ के लेखक गौरवान्वित महसूस करते हैं। ज़ाहिर है कि चुनौतियों से भरे यहाँ के साहित्यिक वातावरण ने मेरे सर्जक को सान पर चढ़ाया और मैंने अनवरत लिखा है। हर विधा मे लिखा है और हर विधा में एक-न-दो महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। मुझे यहाँ भरपूर अपमान भी मिला है और भरपूर सम्मान भी। चरा भी गया हूँ, चरा भी है। मित्रों की सितमज़रीफ़ियाँ सही भी हैं और पलट कर उन्हें वर्षों सितमज़रीफ़ियों का शिकार भी बनाया है। ततद्यो

और बर्रों के डंक सहे हैं और उनके डंक निकाल कर उन्हें धागे से ब
उडा कर रस भी पाया है। इस शहर ने मुझे स्वीकार किया हो या
किया हो, पर मैंने इसकी तमाम शर्तों, मूल्यो और चुनौतियो के
इसे स्वीकार लिया है, और मुझे कोई अफसोस नही। इस शहर
मुझे त्राण दिया है तो मैंने भी अपने जन्म-स्थान को भूल कर इस
नाम देश-देशान्तर मे फैलाया है।

इस शहर के बारे में कोई स्मृति ?

स्मृतियाँ हजारो हैं और अपने पेचीदा और कई-कई खण्डो मे बँटे चरि
का उद्घाटन करने के बहाने मै उन सब को अपनी ग्रन्थ-माला 'चेह
अनेक' मे विषयवार सँजो रहा हूँ। तीन खण्ड लिख चुका हूँ, चौथा लि
रहा हूँ और दस लिखने का इरादा है। साहित्य-क्षेत्र मे उसको लेक
काफी बवण्डर भी मचा है, लेकिन झूठ नही लिखूँगा और न अपने आप
बख्शूँगा, यह मैंने तय कर रखा है। जिन्दगी ने साथ दिया तो स
स्मृतियाँ सँजो दूँगा और अपने ही नही दूसरो के मुखौटे भी उत
दूँगा। हाँ, एक बात बार-बार याद आती है। इस शहर ने मेरे घर
एकमात्र खुशी छीन ली है। मेरी बीवी जमीदारो के ऊँचे घराने
नातिन है। लौहार की पढी-लिखी, औपचारिक, व्यावहारिक, बहुत
नाजुक टेस्ट रखने वाली, सौफिस्टीकैटेड महिला। उसकी सबसे बडी खुश
मित्रो को दावतें देना और खिलाना-पिलाना रहा है। १९६० तक जब
जब मैंने उसे उदास देखा है, दोस्तों को बुलाया है खाना खिलाया
गोष्टियाँ की है, जिनमे बडे चाव से उसने मित्रो को बनारसी
मिठाई खिलायी और बढ़िया कॉफी पिलायी है और साल
एक-आध बार बडी-बडी पार्टियाँ भी की है। फिर जैसा कि होत
है, मेरे विरोधियो ने मेरा कुछ बिगाडने मे असफल रह कर, उस पर ओ
वार किये। दो मित्रो ने लिखा कि कौशल्या जी जल-पान कराके ठगत
हैं। एक मित्र ने उस पर खासी गालियों-भरा उपन्यास ही लिख मार
और मेरी बीवी की समझ मे नही आया कि उनके पास क्या है, जो व

ठगेगी ? और झगड़ा साहित्य का है तो उसे क्यो साना जा रहा है ? मैं तो परवाह नही करता, इसके बावजूद वैसे खिलाने-पिलाने मे विश्वास रखता हूँ, कि यूँ मित्रो को जलाने भी एक सुख है। लेकिन वह गम्भीर औरत है। चुप हो गयी और मेरे घर की एक बडी खुशी निकल गयी।

●

देवेन्द्र सिंह का दद

•

अश्क जी आपने अपना साहित्यिक जीवन आधी सदी से भी कुछ वर्ष पहले पजाबी में शुरू किया था। फिर आप बीस वर्षों तक उर्दू में लिखते रहे, अब तीस वर्षों से भी ऊपर समय से हिन्दी मे लिखते आ रहे हैं। आपके साथ साहित्य के एक युग का इतिहास जुड़ा हुआ है, जिसमे साहित्यिक वाद-विवाद, लड़ाई-झगड़े और ग़जब के मा'र्के हैं। जी होता है आज अपने पंजाबी श्रोताओं के लिए आपसे कुछ आपके जीवन के बारे में पूछूँ और कुछ उन साहित्यिक मा'र्कों और लड़ाइयों के बारे मे !

शौक से पूछिये देवेन्द्र जी।

सबसे पहले आप अपनी जिन्दगी की कोई ऐसी बात या घटना बतायें, जो न हुई होती या कोई ऐसा मोड़, जो न आया होता तो अच्छा होता।

देवेन्द्र जी, यह सवाल आपने ख़ासा मुश्किल पूछा है। मेरी आदत है कि मैं झूठ नही बोलता। मुझे लगता है कि मेरी दूसरी शादी न हुई

---

१. यह समालाप पंजाबी भाषा में १५ अक्तूबर १६८२ को आकाशवाणी, नयी दिल्ली के पंजाबी प्रोड्यूसर श्री देवेन्द्र सिंह और अश्क जी मे आकाशवाणी के स्टूडियो में रेकार्ड हुआ। यहाँ उसका संशोधित रूप हिन्दी में प्रस्तुत है।

होती तो बहुत अच्छा होता । कारण यह है कि जब मैंने अपनी उस पत्नी को छोडा था, तब भी और आज, जब उससे सम्बन्ध-विच्छेद हुए चार दशक बीत गये है, मुझे हमेशा लगता रहा है कि मुझसे यह खासा बडा गुनाह हुआ है । अब तो कही-कही परित्यक्ता महिलाएँ दूसरी शादी करने लगी है । राकेश की तीनो पत्नियो ने दूसरी शादियाँ कर ली हैं । लेकिन जब मैंने अपनी दूसरी पत्नी को छोडा था तो ऐसा नही होता था । फिर वह पुराने विचारो के ब्राह्मण परिवार की लडकी, मैंने हल्का सा सुझाव दिया तो उसने मुझे 'चाण्डाल' का ख़िताब दे दिया । परित्यक्ता पत्नी शादी न करे, आपको दुष्चरित्र अथवा गया-गुजरा समझते हुए भी आपके नाम की माला जपती रहे; तब ऐसी स्थिति में अपराध का बोध तो होता ही है । मेरी मुसीबत यह कि मैं उस सिलसिले में कुछ कर नही सकता था । जैसा कि मैं कई बार लिख चुका हूँ, वह ऐसी मूढ़, मुँहफट और ज़बान-दराज़ औरत थी कि मुझे लगता था, यदि मैं उसे एकदम नहीं छोड देता तो किसी दिन भयंकर क्रोध मे मैं उसका गला घोट दूँगा या आत्मा-हत्या कर लूँगा । मैं समर्पित लेखक हूँ । जिन्दगी मैंने बहुत पहले साहित्य के अर्पण कर दी थी । मुझे लगा कि यह गुनाह मुझे करना ही पडेगा । लेकिन अफ़सोस तो होता ही है । उस घटना पर भी और उसकी ज़द मे (चपेट में) आयी हुई जिन्दगी पर भी । सोचता हूँ— काश, वह सब न हुआ होता !

यदि आपकी दूसरी पत्नी अपने-आपको आपके मुताबिक ढाल लेती तो क्या आप इस गुनाह से बच न जाते ?

जरूर बच जाता । तब शायद गुनाह करने की नौबत ही न आती । वह मेरी थोडी भी बात मान जाती तो इस बात के बावजूद, कि मेरा मन कही दूसरी जगह था और वह शादी घर वालो के दबाव मे हुई थी, मैं उससे निबाह ले जाता । बात यह है कि मैं अपनी माँ की नैतिकता से बँधा बेटा रहा हूँ । माँ पंजाबी मुहावरे की भाषा में मँजी पर मँजी लाने को याने एक खटिया पर दूसरी खटिया लाने को—खटिया प्रतीक

है पत्नी का—गुनाह समझती थी। सो, दूसरी बीवी को छोड कर तीसरी शादी करना उसे दुख पहुँचाने के बराबर था। उस ज़माने के मान-दण्डो के अनुसार रखैल की बात उसकी समझ मे आती थी, पर एक पत्नी के रहते दूसरी पत्नी की नही और मेरे निकट रखैल रखना, याने दोहरी ज़िन्दगी जीना, कही ज़्यादा बडा गुनाह था। बहरहाल, माँ का दिल दुखाना मुझे स्वीकार न था। इसलिए मैं बहुत ही परेशान न हो जाता तो उसे न छोडता। यदि मैंने बाद मे तीसरी शादी की तो बिना माँ से पूछे नही की।

अश्क जी लड़ाई का आँसू से याने अश्क से क्या ताल्लुक है ?

भाई, अन्याय से आँख मे अश्क आता है तो आदमी लड़ता है। और लडाई होती है तो आँखें अश्कबार होती हैं। बस आगे-पीछे का ताल्लुक है।

आपने बजा फ़रमाया। इसीलिए मैं पूछना चाहता हूँ कि लडाई आप स्वय मोल लेते हैं या वह आपके गले आ पड़ती है। मै साहित्यिक-क्षेत्र मे होने वाले झगड़ों की बात करता हूँ।

देवेन्द्र जी, आप जानते है कि हम निचले मध्यवर्ग के लोग हैं—यानी मैं और मेरे अधिकाश साहित्यकार साथी। इस वर्ग की यह खूबी है कि लोग एक-दूसरे की चढ़ती-बढ़ती देख नही पाते। मैं तो जब हिन्दी मे गया, मेरे आगे बहुत सारे साहित्यकार थे। पहले पंजाबी मे लिखता था, फिर उर्दू मे लिखता रहा। १९४८ मे जब इलाहाबाद गया तो मैं न केवल बीमारी से उठा था, बलिक आर्थिक रूप से भी टूटा हुआ था। पहले तो यह कि उस दुर्दिन मे लोगो ने समझा कि जैसे मैं भीख माँगता आया हूँ। उन्होने वैसा ही थोड़ा गैबी व्यवहार किया। जब कि दो ही वर्ष पहले बम्बई मे मेरी मासिक आय १५०० रुपया महीना थी, जो कि उस जमाने मे खासी बडी राशि थी। फिर सरकार ने अनुदान दिया तो अपने आप दिया, मैंने तो माँगा नहीं था। जब लोगों ने अच्छा व्यवहार

नही किया तो पजाब से उखड कर आने वाले हजारो-हजार दूसरे लोगो की तरह मेरी पत्नी ने सरकार से कर्ज लिया। प्रकाशन किया। हमने बहुत मेहनत करके उसे जमाया। सरकार का पाई-पाई कर्ज चुकाया और मैं नौकरी और गुलामी से आजाद होकर स्वतन्त्र रूप से लिखने लगा। बस यही लोग बरदाश्त नही कर सके। वे मेरी मेहनत नही देखते। लगातार बिना आराम किये साल-ब-साल लिखता आ रहा हूँ, यह नही देखते। वे मेरा जमा हुआ प्रकाशन, मेरा स्वाभिमान और मेरा बगला देखते है और जैसा कि निचले मध्यवर्ग के लोगो की आदत होती है, प्रवाद फैलाते हैं, परेशान करते है। मैं चूँकि बहुत ही सेन्सटिव आदमी हूँ; क्रोधी ब्राह्मण हूँ, बर्दाश्त नही कर पाता। अन्याय का प्रतिकार करता हूँ। मेरी एक लम्बी कविता है। उसकी चार पक्तियाँ सुनिए—

> अपने वीर्यवान पुरखो-सा
> स्वाभिमान से सिर ऊँचा कर
> उन हाथों से देने को जो सदा अनुद्यत
> बरबस निज अधिकार छीन कर
> लड़कर नित्य अनाचारों से
> काटे हैं मैंने भरसक चिर-
> अन्धज्ञान के अन्धकार के—
> रूढ़ि-ग्रस्त मानव के बन्धन !

सो, यदि किसी ने मेरे साथ ज्यादती की तो मैंने उसे माफ़ नही किया। किसी ने एक तमाचा मारा तो जवाब मे मैंने दो मार दिये। मुसीबत यह है कि अपना तमाचा लोग भूल जाते हैं मेरा याद रखते हैं। अब मैं क्या कर सकता हूँ !

जो करारा होगा, वह तो याद रहेगा ही।

एक छोटी सी घटना सुनाता हूँ, अपनी साहित्यक जीवनी 'चेहरे : अनेक' के दूसरे खण्ड मे मैंने इसे विस्तार से लिखा है। इलाहाबाद में एक

आलोचक थे। रेडियो मे प्रोडयूसर हो गये। मैं तो उखड कर आया था मुझे रेडियो से थोड़ी आय होती थी। किसी पुस्तक की आलोचना के सिलसिले मे उनसे मेरा मतभेद हो गया। लगे परेशान करने। मेरे मित्र स्टेशन डायरेक्टर बदल गये। उन्होने मुझे कुछ सुविधाएँ दे रखी थीं। इन्होने बन्द कर दी। मैंने रेडियो जाना छोड़ दिया। वर्षों छोडे रखा। प्रकाशन जमा नही था। रेडियो की आय बन्द हो गयी। मुझे बहुत तकलीफ हुई और बहुत संघर्ष करना पडा। लेकिन मैंने टेक नही छोडी, झुका नही। फिर ऐसा अवसर आया कि मैंने उन्हें किसी एक चक्कर मे उनके अफसर से लड़वा दिया और निकलने नहीं दिया। क्रोध मे वे नौकरी छोड गये और लगे रोने। यहाँ, वहाँ, कॉफ़ी हाऊस मे, घर मे, बाजार मे—सब जगह एक ही रट लगाये रहते कि मैंने उनके पेट पर लात मारी है। एक दिन दफ्तर में आकर उन्होंने यही बात कही। मैंने कहा अपाने भी तो मेरे पेट पर लात मारी थी। बोले, 'मैंने आपकी उँगली काटी आपने मेरा गला काट दिया।' मैंने कहा, 'आपको किस डॉक्टर ने बताया था कि मेरी उँगली काटें। आप उँगली काट सकते हैं, मैं गला काट सकता हूँ।'

> **अश्क जी आप ब्राह्मण हैं। हमारे पण्डित-ज्ञानी ऋषि-मुनि महान लोग थे। चिन्तक और तपस्वी। लेकिन एक बात उनमें समान थी। वे अव्वल तो क्रोध नहीं करते थे और जब करते थे तो शत्रु का भगवान ही मालिक होता था। आपको देख कर मुझे कभी-कभी उन्हीं की याद आती है परशुराम की, दुर्वासा की....**

आप ही को नही, दूसरो को भी आती है। इलाहाबाद मे जा बैठा हूँ—संगम के तट पर, अपने कुल-गुरु भारद्वाज के आश्रम के निकट। सो मैं कभी-कभी हँस कर कहता हूँ कि मै ऋषि हूँ और वही आ गया हूँ जहाँ से मेरे पुरखे गये थे। एक दिन ऐसे ही मे, भरी मीटिंग मे, हिन्दी की प्रसिद्ध कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा—"अश्क मेरे अनुज

हैं। त्रिवेणी-तट पर आ बसे हैं। ये ऋषि तो है, पर परशुराम है या दुर्वासा।" बात न तुम्हारी गलत है न महादेवी जी की। कारण मैं नही जानता। क्रोधी तो मैं हूँ। मेरे दादा चण्डी के उपासक थे। बहुत ही भोले आदमी थे। नितान्त सादा-लौह ! लेकिन भयकर क्रोधी थे। पिता भोले भी थे, तेज भी थे, लेकिन क्रोधी तो उनसे भी ज्यादा थे। सो यही हाल मेरा है। भोलेपन के साथ तेजी मेरे किरदार का भी हिस्सा है। क्रोधी भी हूँ। जरूर यह खून का असर होगा। फ़र्क यही है कि दादा या पिता की तरह मेरा क्रोध भड़भड़िया नही। बहुत ही ठण्डा और सदा सुलगता रहने वाला है—जब तक मैं ज्यादती या अपमान का प्रतिकार नही कर लेता, मेरा क्रोध शान्त नही होता। क्रोध के साथ मेरे किरदार मे बेपनाह हठ है। उसी हठ के कारण हुआ कि मैंने साहित्य-क्षेत्र मे कदम रखा तो अपने उद्देश्य से रच-मात्र इधर-उधर नही भटका।

इस क्रोध और हठ ने आपके साहित्य को तो लाभ ही पहुँचाया है। साथियों द्वारा नजर-अन्दाज किये जाने पर न आपके मन में गुस्सा आता, न आप साहित्य के मोर्चे पर यूँ आ जुटते !

बिलकुल ! इतने लडाई-झगड़े और वाद-विवाद हुए हैं। मैं कभी किसी से इसलिए परास्त नही हुआ कि मेरा क्रोध हल्का नही रहा। वह अमर्ष रहा है। उसके पीछे सच्चाई और नैतिक बल रहा है। महज स्वार्थ, ईर्ष्या अथवा मद या अहंकार-वश मैंने किसी को चोट नही पहुँचायी। मैंने हमेशा अन्याय का प्रतिकार किया। ऐसे में यदि नैतिकता आपके साथ हो तो वह अमर्ष आपको बेपनाह शक्ति दे जाता है। वरना क्रोध तो पाप का मूल है और गीताकार ने सच ही लिखा है कि वह आदमी को विनष्ट कर देता है।

अश्क जी, आप उर्दू में लिखते थे, जब देश का बँटवारा हो गया। आप उखड़ गये। तब आप अंग्रेजी में लिखते या फिर

पजाबी में ही लौट आते । आप हिन्दी की ओर कैसे चले गये

देवेन्द्र जी, मैं अग्रेजी मे तो कभी न लिखता । इसलिए नही कि मैं लिख नही सकता था । मैं बी० ए० मे था, जब मेरे लेख अग्रेजी मे छपते थे कानून भी मैंने विशेष योग्यता से पास किया था । अग्रेजी मे लिखना मेरे लिए कुछ उतना कठिन नही था । पर जब देश बँटा और उर्दू का भविष्य धुँधला गया तो लिखते और छपते हुए मुझे लगभग चौथाई सदी बीत गयी थी । मेरी दृष्टि और उद्देश्य साफ़ हो गये थे । मैं अपने अथवा देशवासियो के लिए लिखता हूँ । अपने बेटो-पोतो और आने वाली पीढियो के लिए लिखता हूँ । मैं अपना या अपने समाज या परिवेश का चित्रण करता हूँ । अग्रेजी मे लिखता तो जाहिर है बाहर वालो के लिए लिखता और वही लिखता, जो विदेशों के अंग्रेजी पाठकों को प्रिय है—प्यार, सेक्स, परवर्शन्ज अथवा इस देश की भूख या गरीबी या वे बुराइयाँ, जिन्हे बाहर वाले देखना पसन्द करते हैं । अपने परिवेश में पनपती विसगतियो का मैं अब भी चित्रण करता हूँ, बुराइयो को भी उकरता हूँ और भूख तथा ग़रीबी को भी, पर मेरा उद्देश्य उनके प्रति अपने पाठको को जागरूक बनाना होता है । मैं इसलिए उसका चित्रण नही करता कि मेरे पाठक उसमे रस पाये और देश से नफरत करें । ..

लेकिन पंजाबी . .

देवेन्द्रजी, मैं आपका दर्द समझता हूँ । वह हम सभी पजाबियो का दर्द है । मैं पजाबी मे लिख सकता था, लेकिन एक तो जब मैं देश के बँटवारे के बाद उखड़ा तो मुझे हिन्दी मे लिखते हुए भी दस-पन्द्रह वर्ष हो गये थे और मैं हिन्दी मे भी काफी प्रसिद्ध हो गया था । फिर उत्तर प्रदेश की पहली राष्ट्रीय सरकार ने मुझे बिन माँगे पाँच हजार का अनुदान दिया । यह अनुदान मुझे हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक के नाते ही मिला । सो मैं इलाहाबाद चला गया और हिन्दी मे लिखने लगा । यदि कही उस वक्त पजाब सरकार ने सुधि ली होती तो मैं पंजाब में आ बसता और निश्चय ही पंजाबी मे लिखता । शायद आपको मालूम हो

१६४३ मे मेरी पंजाबी कहानियों का एक संग्रह 'वावरोले' 'लाहौर बुक शाप' से छपा था। पंजाबी लिखने मे मुझे कठिनाई न होती, बल्कि मेरा निश्चित मत है कि उस बनावटी पजाबी की बजाय जो प्रायः आज लिखी जाती है, मैं ज़्यादा रवाँ और सटीक पंजाबी लिखता। ज़िन्दगी भर उर्दू-हिन्दी मे लिखता रहा हूँ, लेकिन पंजाबी परिवेश को ही तो चित्रित करता रहा हूँ। उसी को यदि मै पजाबी मे चित्रित करता तो सोने मे सुगन्ध की सी बात हो जाती। मेरे लिए सहज भी वही होता। एक बार बाते करते हुए मण्टो ने कहा था, 'यार मुझे पंजाबी मे लिखना चाहिए था।' लेकिन पंजाबी मे कोई गुजाइश नही थी। मण्टो क्या करता और अश्क ही क्या करता ?

मण्टो ने क्या कहा था ?

उर्दू मे लिखने वाले सभी पजाबी लेखको की तरह मण्टो भी यही सोचता था कि पजाबी मे लिखे तो बेहतर तौर पर अपने विचारो को व्यक्त कर सकते हैं। लेकिन हम क्या करते ? अंग्रेज़ी राज्य मे पजाबी सिक्खो ने बड़े-बडे आन्दोलन किये। काग्रेस ने किये। लेकिन किसी ने इस बुनियादी समस्या को लेकर कोई आन्दोलन नही किया कि पजाब मे आरम्भिक शिक्षा, प्रात की मातृ-भाषा पंजाबी मे होनी चाहिए और वह पजाबी गुरुमुखी लिपि मे लिखी जाय। सिक्ख लोग गुरुवाणी को गुरुद्वारों मे बन्द किये रहे। पजाबी लोग बोलते पंजाबी थे, लेकिन मुसलमान उर्दू लिपि मे लिखते थे, हिन्दू औरते हिन्दी लिपि मे और सिक्ख गुरुमुखी मे। यदि वैसा आन्दोलन सिक्खो ने किया होता तो न पंजाब बँटता और न ये झगडे-टण्टे खड़े होते और इतने सारे पंजाबी लेखक, जो उर्दू और हिन्दी मे ख्यात हुए, पंजाबी का डंका दसों दिशाओ मे गुँजा देते।

हां, यह बेसमझी और बेपरवाही उस ज़माने के पजाबी दानिशवरों से हुई। सामाजिक और राजनीतिक नेताओं से हुई। तो भी अब जब कभी घर वापस आने का ख़याल आये

**और वैसा खयाल आना स्वाभाविक है तो क्या आप अ
पजाबी मे लिखने की नहीं सोचते । बलराज साहनी ने तो...**

हाँ, बलराज साहनी ने अन्तिम दिनो मे सिर्फ पजाबी मे लिखने की
कसम खा ली थी, जब कि अपनी पहली कहानियाँ उन्होने हिन्दी मे
लिखी थी । लेकिन साहित्य बलराज का शौक था । मेरा व्यवसाय भी
है । बलराज फिल्म की रोटी खाते थे, मैं साहित्य ही पर गुज़र-बसर
करता हूँ । पंजाबी मे लिखने का खयाल अब भी आता है, पर बहुत
देर हो गयी है । मेरा बडा परिवार है, इलाहाबाद मे जमा हुआ हूँ
हिन्दी मे नाम हो गया है । उर्दू मे भी किताबें छप रही हैं । तो भी
पंजाब सरकार बुला ले और सारी सुविधाएँ दे तो ज़िन्दगी के जो वर्ष
शेष हैं, उनमे पाँच-दस किताबें तो पंजाबी मे लिख ही जाऊँ । यूँ ही
धक्के खाने के लिए तो पंजाब नही आ सकता ।

●

अभियोगों की भरमार और ७२ वीं वर्ष-गाँठ

●

पिछले पचास-पचपन वर्षों के अपने साहित्यिक जीवन पर नज़र डालता हूँ तो पाता हूँ कि शुरू से ही मेरे साथ कोई-न-कोई स्कैण्डल अथवा प्रवाद जुडता आ रहा है। पहले मैं बहुत परेशान हो जाता था। अपनी रातो की नीद हराम कर लेता था। उनका उत्तर देने की कोशिश करता था। जब मेरी तमाम सफाइयाँ बहरे कानो पर पड़ती थीं और मित्र मुझे बदस्तूर परेशान करते थे तो मैं विक्षुब्ध हो उठता था। दिन के उजाले मे निकलना छोड़ देता था। मित्रो से मिलना छोड़ ,देता था। लेकिन बाद मे, विशेषकर इलाहाबाद में कुछ वर्ष गुज़ार लेने पर, मैंने तमाम अभियोगो का प्रतिवाद करना बन्द कर दिया। हफ्तो-महीनो काम करने के बाद, मैं किसी शाम सिविल लाइन्ज़ जाता और कॉफ़ी-हाउस की मेज़ पर सामने बैठा कोई मित्र अथवा प्रच्छन्न-शत्रु पुराना या नया अभियोग लगाता तो बजाय उसका प्रतिवाद करने के, मैं न केवल परम दबंगई से उसे स्वीकार कर लेता, बल्कि अपनी ओर से उस किस्से मे कुछ पत्ते लगा कर उसे बयान कर देता।

लेकिन इस तरह वह छोटी-सी बात दुगनी-चौगुनी होकर फैलने लगती। यो अभियोग बढ़ते गये और मेरे पाठक मुझे परेशान करने लगे तो अपने संस्मरणो (शिकायतें और शिकायतें; मण्टो : मेरा दुश्मन; आसमाँ और भी हैं; चेहरे : अनेक १-२-३) भेंट वार्ताओ (कहानी के इर्द-गिर्द, गिरती दीवारें : दृष्टि-प्रतिदृष्टि) और लेखो आदि मे मैंने अपनी सफ़ाई दी और सही-सच्ची बातें लिख दी। आप सोचते होगे,

इससे कोई अन्तर पडा । जी नही । पुराने प्रवाद बदस्तूर फैलते
और वे ही लोग फैलाते रहे, जिन्हे सच्ची बातो का इल्म था ।

वास्तव मे, जैसा कि मैंने कही लिखा है, जो लोग अपने मि
अथवा प्रतिद्वन्द्वियो के बारे मे स्कैण्डल फैलाते है, उनका एक अप
सच होता है, जो अफवाहो, प्रवादो, इच्छाजनित धारणाओं (विश
थिंकिग) और झूठ से बना होता है। आप लाख सफ़ाई दीजि
लाख प्रतिवाद कीजिए, वे अपने उस 'सत्य' का दामन नही छोड
जान बूझ कर उन प्रवादो को फैलाने मे सुख पाते हैं ।

०

दो वर्ष पहले, इन्ही दिनों जब मैं दिल्ली मे था, मैं एक 'पाक्षिक'
दफ्तर मे बैठा था । बात-बात मे सम्पादक ने कहा—'अश्क जी, अ
७० के होने जा रहे हैं । कर सकें तो आप उन अभियोगो का उत्तर
जो आप पर लगातार लगाये जा रहे है । हम छापेंगे ।

'छापोगे तो तुम क्या,' मैंने कहा, 'पर कुछ अभियोग बनाओ
मै उत्तर दूँगा । जाने मैं कितनो के उत्तर दे चुका हूँ ।'

उन्होने एक ही साँस मे कई अभियोग गिना दिये—कुछ पुरा
अधिकाश नये ।

कुछ ही दिन पहले मै राजस्थान के लम्बे दौरे के बाद लौटा ह
मैं जहाँ-जहाँ भी गया, मुझे उनमे से कोई न कोई अभियोग सुन
पडा है । यह भी आग्रह कि मुझे बाकायदा उनका उत्तर देना चाहिए

मैं जानता हूँ कि इससे कोई अन्तर नही पडेगा । मैंने देखा है
निन्दा मे ही नही, मेरी प्रशसा मे भी पढे-लिखे विद्वान मित्र कई ब
मेरी उपस्थिति मे ही ऐसी बातें कह देते हैं, जो कभी नही घटी
दिलचस्प बात यह है कि मैं उन्हे काट भी नही सकता, क्योकि वै
करना सार्वजनिक रूप से मित्रो को 'झूठा' करार देने के बराबर होता है

मैं दो महीनो मे ७२ का हो जाऊँगा । किसी अन्य उद्देश्य से न
तो महज अपने पाठको की दिलचस्पी और जानकारी के लिए मैं उ

अभियोगो का उत्तर देता हूँ। हालाकि मैने ही लिखा है

चले है 'अश्क' इकबाल-ए-गुनह को
गुनाह उनके मगर यूँ कम न होगे।

बीवी-बच्चो का शोषण

लोग कहते है—कई बार मेरे मुँह पर और कई बार मेरी पीठ पीछे—कि मैंने दूसरो का ही नही, अपने बीवी-बच्चो का भी शोषण किया है; कि अपनी पत्नी को, जो मुझ से बेहतर लिख सकती थी, मन मुताबिक लिखने नही दिया और अपने छोटे लडके को, जो सीनियर कैम्ब्रेज से एम० ए० तक डिस्टिंक्शन होल्डर होने के कारण, आई० ए० एस० हो सकता था, मैंने कम्पीटीशन मे नही बैठने दिया और यो उन दोनो को प्रकाशन मे झोक कर उनका सहज विकास रोक दिया।

मै इस अभियोग का क्या उत्तर दूँ, मैं समझ नही पा रहा। इसमे सत्य उतना ही है, जितना आटे मे नमक होता है।

यह सही है कि मेरी पत्नी का कलम मेरी अपेक्षा ज्यादा सहज और फैमाइल (सरल) है और सीधी-सादी पारिवारिक कहानियाँ लिखने मे उसे सिद्धि प्राप्त है। थोडा श्रम करे तो वह ख़ासी गहरी और जटिल कहानियाँ भी लिख सकती है। लेकिन मैंने उसे प्रकाशन करने के लिए नही कहा। इसका दोष तो इलाहाबाद के हमारे मित्रो और यहाँ के उन बड़े कवियो और साहित्यकारो के सर है, जिन्होने इलाहाबाद आने के बाद, उस वक्त, जब मैं यक्ष्मा से पूरी तरह मुक्त नहीं हुआ था और पैसा भी हमारा चुक गया था—उस दुर्दिन मे—हमारे साथ ऐसा शेख़ी और भोडा व्यवहार किया कि मेरी पत्नी ने एक दिन जल कर कहा—'ये लोग समझते क्या हैं, मैं इन्हे 'लीडर प्रेस' से बड़ा प्रेस खोल दिखा दूँगी'....लेकिन हमें बिड़ला, डालमिया तो बनना नही था, सिर्फ़ लेखक रहना था, इसलिए मैं उसे केवल यह सलाह दी कि वह नहीं मानती तो प्रेस के स्थान पर प्रकाशन करे। हाँ, यह सच है कि जब प्रकाशन शुरू हो गया तो मैंने इस बात का ज़रूर ख़याल रखा कि

तमाम बाधाओं के बावजूद, वह डूबे नही और कोरा प्रकाशन नहीं लेखक का ही प्रकाशन रहे।

लेकिन इधर तो वर्षों से मेरी पत्नी प्रकाशन से अलग है। वह चाहती तो अब तक आठ-दस पुस्तकें तो लिख ही सकती थी। लेकिन वह ममता-मोही नारी है और लेखन थोडा निर्मम और क्रूर कर्म है। वह निमर्मता और क्रूरता दूसरो के प्रति कम और अपने प्रति ज्यादा बरतनी पडती है। मेरी पत्नी यह नही कर सकती। वह प्रेशर मे लिखती है। आकाशवाणी के लिए कहानी लिखनी होती है। आख़िरी दिन तक टालती रहती है। अन्तिम रात कागज़ कलम लेकर बैठती है और अलस्सुबह ख़त्म कर देती है। वह नही जानती कि प्रेशर यदि अन्तर का नही होता तो आदमी निरन्तर नही लिखता।

रही मेरे छोटे बेटे नीलाभ की बात तो यदि मैंने उसकी मेज़ की दराज़ मे दो डायरियों पर उसकी कविताएँ लिखी न देखी होतो और उन कविताओ मे शैली और वस्तु की कुछ नवीनता मुझे न मिलती तो वह निश्चय ही चारटर्ड एकाउँटेण्ट अथवा आई० ए० एस० होता, क्योंकि मेरी असुरक्षित ज़िन्दगी को देखकर उसकी माँ उसके लिए ऐसा कैरियर चाहती थी, जिसमे अपेक्षाकृत सुरक्षा हो। लेकिन मैं समझता हूँ कि भगवान यदि किसी को अभिव्यक्ति की शक्ति देता है तो उसे भगवान की उस देन का निरादर नही करना चाहिए, उसे कृतज्ञ होना चाहिए और उस शक्ति को उत्तरोत्तर बढ़ाना चाहिए। मैं नही समझता कि चारटर्ड एकाउँटेंण्ट अथवा कलक्टर-कमिशनर होकर, नीलाभ निरन्तर कविता भी कर सकता। जब उसने मुझे बताया कि उसका मन चारटर्ड एकाउँटेण्टसी मे नही है, यद्यपि माँ कहेगी तो कर लेगा और उसने मेरी राय माँगी तो पिता के नाते, दोनो मार्गों की उपलब्धियाँ और कठिनाइयाँ मैंने उसे समझा दी और चुनाव के लिए स्वतन्त्र छोड दिया। अन्ततः पन्द्रह वर्ष प्रकाशन करने और युवा कवि के तौर पर नाम पाने के बाद अपने मित्रो के ज़ोर देने पर, वह बी० बी० सी० के कम्पीटीशन मे बैठा, चुना गया और लन्दन चला गया। मैं जानता था कि वह कदम उसके

कवि के लिए घातक हैं, पर मैंने उसे नही रोका। चौथा कविता-संग्रह तैयार करके भेजने और पाँचवा तैयार करने के लिए कह गया था। पर दोनो मे से कोई बात नही कर सका। हाँ वह मेच्योर होकर आयेगा, इसी आशा से मैंने उसे जाने दिया। कविता करता रहेगा या नही, मैं कह नही सकता।

सुख-सुविधा का विरोध

कुछ इसी तरह का अभियोग मुझ पर युवक कवियो और कलाकारो के संदर्भ मे लगाया जाता है। कहा जाता है कि यदि मैं किसी युवक, कवि या कथाकार को सुख-सुविधा का कोई साधन जुटाते देखता हूँ तो घोषणा कर देता हूँ कि उसका लिखना बन्द हुआ, जब कि स्वयं सब सुख-सुविधाएँ बटोरे जाता हूँ और पूछने पर कह देता हूँ कि वह सब तो कौशल्या के कारण है।

जो लोग मुझ पर यह अभियोग लगाते हैं, उन्हें मैं कई बार अपनी बात समझा चुका हूँ, लेकिन उन्हे अपना चुस्त जुमलो से भरा 'झूठा सच' प्रिय है। वास्तविकता के उन्हे कुछ लेना-देना नही। चूँकि कुछ समय पहले 'प्रतिमान' के एक अंक में फिर ये जुमले उछले हैं, इसलिए मैं अपने युवा साथियो और पाठकों के सामने पुन. अपनी बात रखता हूँ।

मैं न अपने लिए सुख-सुविधा का विरोधी हूँ न अपने किसी अन्य साथी के लिए। शर्त यही है कि वह सुख-सुविधा लेखन के पारिश्रमिक से उपलब्ध हो सके। अमरीका मे जिस लेखक की एक किताब जनता की नज़र में चढ़ जाती है, वह इतनी बिक जाती है कि उसकी रायल्टी से वह शेष जीवन हर तरह की सुख-सुविधा का उपभोग कर सकता है। चूँकि यहाँ ऐसा सम्भव नही, इसलिए मैं आत्मानुशासन पर ज़ोर देता हूँ। लेखन-कर्म छोड कर सुख-सुविधाएँ बटोरने का मैं कायल नहीं और समझता हूँ कि भारत की परिस्थितियों में समर्पित रचनाकारो को निश्चय हो ज़रूरी (ऐसेन्शयल्ज़) और ग़ैर-ज़रूरी (नान-एसेन्श्यल्ज़)

मे फर्क करना ही होगा। मैंने हमेशा इस अन्तर का ध्यान रखा है और साथियो को भी सलाह दी है कि वे इसका ध्यान रखे।

मैं एक मिसाल देकर अपनी बात समझाने की कोशिश करूँगा। 'क' एक कॉलेज मे युवा अध्यापक है। जिन्दगी की तमाम निम्नतम ज़रूरियात उसके वेतन से पूरी हो जाती है और अवकाश का समय वह साहित्य-सर्जना मे लगाता है। उसके कलम मे अभूतपूर्व शक्ति है और वह उच्चकोटि की कहानियाँ लिखता है। तभी उसका एक युवा साहित्यकार साथी, प्रेस लगा लेता है, छोटा-सा प्रकाशन भी करता है और शौकिया कहानियाँ थी लिखता है। (अध्यापक की जगह आप क्लर्क और प्रेस वाले की जगह अफसर-लेखक रख सकते है।) अध्यापक के साथी का प्रेस जम जाता है, उसके घर गैस का चूल्हा, फर्नीचर, फ्रिज, स्टीरियो आदि सुख-सुविधा की तमाम चीज़ें आने लगती है। तब अध्यापक की पत्नी भी उसे कोचती है (कि निम्न मध्यवर्ग की तमाम पत्नियाँ पडोसियो की स्पर्धा मे अपने पतियो की ज़िन्दगी हराम किया करती हैं) और बेचारा अध्यापक, जो महान कथाकार बन सकता था प्रेस के मालिक अपने साथी की स्पर्धा मे साहित्य-वाहित्य छोड़, अपने अवकाश के समय मे अतिरिक्त काम करने लगता है।—वह कापियाँ जाँचता है, (अपने कॉलेज की ही नही, जो उसे जाँचनी ही चाहिएँ, वरन तिकडम भिडा कर प्राप्त की हुई अन्य विश्वविद्यालयो की भी) ट्यूशने ले लेता है; प्रेत-लेखन करता है और सुख-सुविधा के सामान जुटाकर घर सजा लेता है।

मैं लेखको के लिए—विशेषकर ऐसे लेखको के लिए, जिनके कलम मे शक्ति है—ऐसी स्थिति घातक समझता हूँ। यदि दूधनाथ सिंह ने पिछले दस वर्ष मे नया डबल बैड, डाइनिंग टेबल, फ़र्नीचर और स्टीरियो आदि खरीद लिये हैं और 'सुखात' के बाद एक भी उच्चकोटि की कहानी नही लिखी तो यह अच्छा नही हुआ और यदि १९२८ से १९७८ तक आधी सदी के समर्पित लेखन के बाद, ७० वर्ष की उम्र मे, अश्क के घर एक फ्रिज आ गया है तो कोई ऐसी बुरी बात भी नहीं हुई। क्योंकि

वह किसी अतिरिक्त काम से नहीं, उसके साहित्य के पारिश्रमिक से ही आया है। भले ही वह पारिश्रमिक उसकी उतनी लम्बी साधना के पुरस्कार-स्वरूप मिला हो।

स्पर्धा मेरे ख़याल मे साथी के अच्छे लेखन से होनी चाहिए। उसके घर इकट्ठे होने वाले लकड़ी और लोहे-लंगड से नही।

पैसा और वेश्याएँ

मुझ पर अभियोग लगाया गया है कि मै कहता हूँ—'पैसा तो वेश्याएँ भी कमाती हैं, और 'भी' का प्रयोग मे ऐसी चाबुकदस्ती से करता हूँ कि ध्वनित होता है—'पैसा वेश्वाएँ ही कमाती है।'

यह भी एक 'झूठा सच' ही है। कहूँ कि सच को तोड़-मरोड कर बनाया गया जुमला है, जो प्रायः ऐसे साथियो द्वारा मुझ पर चस्पाँ किया जाता है, जो उत्कृष्ट लेखन के लिए किसी तरह के नैतिक आचार-व्यवहार की शर्तं नही मानते और अपराध-भावना से त्रस्त मुझ पर झूठे आरोप लगाते हैं।

उपर्युक्त कथन मेरा नही। मेरी माँ का है। जब-जब मैंने उसका उल्लेख किया है, उसके हवाले से ही किया है। मेरे पिता खाने-पीने, मौज उडाने वाले, दबग और औबाश आदमी थे। वैसे ही उनके दोस्त थे। जिन्दगी से लौहा लेने के लिए वे हमे दो गुर बताते थे :

१. जिसकी लाठी उसकी भैंस। (आज के संदर्भ मे लाठी याने शक्ति का पर्याय धन है।)

२. तेल तम'ा जिसको मिले तुरत नरम हो जाय। (और तेल तम'ा से ही वह लाठी सिद्ध की जा सकती है।)

मेरी माँ पिता तथा उनके मित्रो की नसीहतो को नितान्त गलत मानती थी। वह जब खाना पकाती, हमें रसोई मे सामने बैठा कर खिलाती तो धीरे-धीरे धर्म-अधर्म, नैतिकता और अनैतिकता की बातें समझाती। इसी संदर्भ में वह कहा करती कि धन कमाना और पेट भरना ही जरूरी नही, यह जानना भी जरूरी है कि धन कैसे कमाया

और पेट कैसे भरा जाता है, कि धन तो वेश्याओ के पास भी होता है और पैट तो कुत्ते और सुअर भी भर लेते हैं ।

मैं काफ़ी लम्बी ज़िन्दगी जी आया हूँ और आज महसूस करता हूँ कि माँ की बात ही ठीक थी । भयंकर मूल्यहीनता और भ्रष्टाचार के इस युग मे, जब कोई भी बुराई, बुराई नही रह गयी और भ्रष्टाचार 'वे ऑफ लाइफ' (ज़िन्दगी का सामान्य ढर्रा) बन गया है, यदि स्वय को सच्चे और प्रगतिशील रचनाकार कहाने वाले साथी मेरे इस कथन का मज़ाक उडाते हैं तो मैं क्या कर सकता हूँ !

आदर्श ओर यथार्थ

मेरी यह बात सुन कर एक मित्र ने सव्यंग्य कहा—'अश्क जी आप भी तो सफल कहाते है, आपके पास मकान है, प्रकाशन है और सुनते हैं कि दिल्ली मे भी आप ने कोई मकान-वकान बनाया था, क्या आपने हमेशा अपनी माँ के इस कथन का पालन किया है ?'

सच्ची बात कहूँ तो उत्तर होगा—'नही !' यह आदर्श कथन है । शत-प्रतिशत इस कथन का पालन मैं नही कर सका । अपने भयकर संघर्ष मे, ज़िदन्गी का साथ निबाहने के लिए मुझे अपने पिता के गुर भी आज़माने पडे हैं, लेकिन आदर्श मेरा अपनी माँ का वही कथन रहा है । यदि मैंने अपने पिता के कथनो को अपना आदर्श बनाया होता तो शायद आज मैं फौजदारी का सफल और प्रसिद्ध वकील होता या बडा फिल्म प्रोड्यूसर या लखपति प्रकाशक ! और मेरे घर में ढब के कौच, डबल बैड या डाइनिंग टेबल की कमी नही होती, न मेरे पुराने बंगले की छतें टपकती और न ही तीसरे-चौथे वर्ष प्रकाशन के कारण मैं कर्ज़दार ही होता । मेरे पास एक नही कई मकान होते, कारें होतीं और सुख-सुविधा के अन्य साधन भी होते । क्योंकि धन कैसे कमाया जाता है, मुझे सब आता है । बहुत कुछ आने के बावजूद मुझसे होता नही, यह दूसरी बात है । और अगर मैं पिछले पचास वर्षों से अनवरत सृजनरत हूँ तो इसीलिए कि अपनी माँ के उस कथन में मेरा अटूट

विश्वास है, और साहित्य-सर्जना-जैसा सुख मुझे और कही नही मिलता। मैं मानता हूँ कि सच्चा लेखक झूठ, छल, प्रपंच, छद्म का पर्दा फाश करता है, वह भ्रष्टाचार और मूल्यहीनता का विरोध करता है, स्वयं भ्रष्ट और मूल्यहीन नही बनता ।

आलोचना सहने की शक्ति

मुझसे प्राय· कहा जाता है कि मैं अपनी आलोचना सहन नही करता। अपनी ओर से कोई सफाई देने के बदले, मैं पूछना चाहूँगा कि हिन्दी में और कौन करता है ? नाम गिनाने से कुछ हासिल नही, लेकिन गत तीस वर्षों मे समवयस्को, मँझली पीढी वालो और साठोत्तरी पीढी के कथा-कारो मे से मैंने अधिकाश की रचनाओ की भरपूर प्रशसा की है, लेकिन यदि वह सब प्रशसा करते हुए एकाध वाक्य आलोचना-स्वरूप लिख दिया है तो मैंने देखा है कि मेरी सारी प्रशंसा मित्रगण भूल गये हैं और आलोचना के उन दो-एक वाक्यो को याद रखे रहे है और जब भी उन्हे मौका मिला है, मेरे खिलाफ उन्होने दिल का गुबार निकाला है। फ़र्क सिर्फ यह है कि·

हम आह भी भरते हैं तो हो जाते हैं बदनाम
वो कत्ल भी करते हैं तो चर्चा नहीं होता

आत्म-दया से पीड़ित

कहा जाता है कि मैं परसीक्यूशन-मेनिया याने खुदतरसी—आत्म-दया-से पीड़ित हूँ और मुझे लगता है कि सारी दुनिया मेरे ख़िलाफ तीर-तफग लेकर उतरी हुई है और निरन्तर मुझ पर वार हो रहे हैं ।

मुझे कोई कम्प्लेक्स नही है। यह हक़ीक्त है कि हिन्दी मे लेखक हो, आलोचक हो, सम्पादक हो, जितने लोग मेरे ख़िलाफ है, उतने अन्य किसी के नही। कुछ समय पहले मैं दिल्ली मे टाइम्ज़ आफ़ इंडिया प्रेस, १० दरियागज गया। 'सारिका' के मित्रो से मिलता-मिलाता मैं 'दिनमान' के हाल मे से होता हुआ, पत्र के तत्कालीन सम्पादक श्री रघुवीर सहाय के कमरे मे भी गया। मैं रघुवीर सहाय की कविताओं

का पुराना प्रशसक हूँ। यद्यपि 'दिनमान' मे लिखता नहीं, पर दिल्ली जाता हूँ तो उनसे जरूर मिलता हूँ। वे कार्यभार से दबे-झुके काम कर रहे थे। मैंने उनके साथ हमदर्दी की तो उन्हें मेरे साथ सहानुभूति हो आयी। कहने लगे—'अश्क जी आप बहुत मेहनत करते हैं, कुछ दिन आराम कीजिए।'

मैंने हँस कर कहा, "मित्र, मेरा इतना विरोध है, मैं दिन-रात मेहनत न करूँगा तो लोग मुझे ग़र्क़ नही कर देंगे।"

हालांकि मैंने हँसते हुए, महज मज़ाक़न यह बात कही थी, लेकिन हल्की सी गम्भीरता-भरी मुस्कान होंटो पर लाकर सिर को दायें-बाये हिलाते हुए उन्होंने कहा—"हाँ, विरोध तो आपका बहुत है।"

तब वही बैठे एक साहब बोले, "क्यो अश्क जी, आपका इतना विरोध क्यो है?"

मैंने हँस कर कहा—"वह कहा है न—

कभी फ़ुर्सत से सुन लेना बड़ी है दास्तां मेरी।"

उन्होने कहा, "अन्य इतने साहित्यकार हिन्दी मे हैं, किसी को लेकर आप जितना विवाद नही, आख़िर कोई तो कारण होगा।'

मैंने कहा, 'मेरा ही एक शे'र है—

रियाकारी 'अश्क' अपना शेवः नहीं
जो दिल में थी लब पे सिवा हो गयी

बस यही कारण है। वरना मुहावरे की भाषा में, मैंने किसी की भैंस चुराई हो, ऐसी तो बात नही।"

तुनुक-मिज़ाजी और भावप्रवणता

मुझ पर लगातार यह अभियोग लगाया जाना है कि मैं बहुत ही पिनकी तुनुक-मिज़ाज, निहायत हस्सास और भावप्रवण प्राणी हूँ : मेरे एक बुजुर्ग कवि मित्र ने यह कहते हुए मुझे परामर्श दिया कि यदि मैं अपनी इस अत्यधिक भावप्रवणता पर अधिकार नहीं पाता तो मैं लगातार दुख पाता और देता रहूँगा।

चूँकि बात सच्ची थी, इसलिए मैं बेहद उद्विग्न हो उठा। आत्म-परीक्षण के क्षणो मे मैंने एक कविता लिखी। उसकी बीच की कुछ पक्तियाँ इस संदर्भ मे मेरी मन.स्थिति की द्योतक हैं।

> यह उघड़े-मांस-सा तमकता सहसास
> मै जानता हूँ
> मेरी कमजोरी है
> जरा सी चोट मुझे सिहरा देती है
> एक टीस है जो अन्तरतम तक दौड़ती चली जाती है
> दिन का चैन और रातों की नींद उड़ा देती है
>
> पर यही एहसास तो मुझे ज़िन्दा रखे है
> यही तो मेरी शहज़ोरी है
> वरना खाल जब मोटी होकर ढाल बन जाती है
> जब छोटे कचोके ही नहीं
> आदमी बड़े-बड़े वार
> बेशर्मी से हँसकर सह जाता है
> जब उसका हर आदर्श
> दुनिया के साथ चलने की शर्त में ढह जाता है
> जब सुख-सम्पदा और धन वैभव उसके चरण चूमते हैं
> वह मज़े से खाता-पीता और सोता है
> तब यही होता है
> कि वह मर जाता है....

और इस तथ्य को जानते हुए मैंने न अपनी भाव-प्रवणता पर अंकुश लगाया, न अपने अन्तर की आग बुझने दी और न अपने सर्जक को ही मरने दिया।

राज्यपालो की मेहमानदारी

इधर लोग यह कहने लगे हैं कि मैं बड़े लोगो—राज्यपालों के यहाँ ठहरता हूँ और मन्त्रियो के साथ मेल-जोल रखता हूँ और परोक्ष रूप से वे यह

कहते-से लगते हैं कि मैं उनके दर पर जबीसाई यानी माथा-घिसा करता हूँ ।

इस आरोप मे इतना तो सत्य है कि जिन दिनो मैने अपना नाटक 'बड़े खिलाडी' लिखा था शायद १६६६ मे, मैं केरल विश्वविद्यालय के अधिवेशन मे भाषण देने गया था। मेरे पुराने मेहरबान, केरल के तत्कालीन राज्यपाल, श्री भगवान सहाय अधिवेशन का उद्घाटन करने आये थे। उनके आमन्त्रण पर मैं त्रिवेन्द्रम गया था और वहाँ राजभवन मे ठहरा था। यह भी सच है कि १६७१ मे न केवल मै ५ महीने बगलौर के राजभवन मे श्री धर्मवीर का मेहमान रहा, बल्कि बाद मे भी मैं उनके यहाँ कुछ महीने गुजारता रहा हूँ। वे मुझे हर तरह का आराम ही नही देते, मेरी मुश्किले भी आसान कर देते हैं। धर्मवीर जी तीन-तीन प्रान्तो के राज्यपाल रहे है, राजा के बेटे है और तबियत भी उन्होने राजाओ की-सी पायी है। मेरा तमाम साहित्य उन्होने पढ़ रखा है। मुझे बहुत सम्मान से रखते है और मेरी छोटी-से-छोटी जरूरत की ओर ध्यान देते है। तब इस बात के बावजूद कि हमारे विचारो में काफी अतर है, जरूरत के वक्त उनसे अपनी कठिनाई कहने में मुझे कभी कोई बुराई नज़र नही आयी। भारद्वाज गोत्र का ब्राह्मण हूँ। अपने ऋषि-मुनि पुरखो के समान गत पचास वर्षों से एक-निष्ठ भाव से साहित्य-साधना मे रत हूँ। पुराने जमाने में मेरे पुरखे अपनी कठिनाइयो के समय राजाओ के दरबार मे जाते थे, सम्मान और सहायता पाते थे। आधुनिक युग मे यदि मेरे जैसा समर्पित रचनाकार ऐसा करता है तो उसमे कौन दोष है ? मेरे आलोचको को सिर्फ़ यह देखना चाहिए कि उसका असर मेरे साहित्य पर तो नही पड़ा। वह तो विकृत नही हुआ। मैं जानता हूँ कि मेरे कुछ प्रगतिशील मित्र इस बात को लेकर प्रचार किया करते है। मुझे प्रगतिशील आन्दोलन से बहुत लाभ हुआ है; अपने विचारो को साफ़ करने में मदद मिली है और यदि मेरा लेखन पहले सोद्देश्य और प्रगतिशील था तो आज भी है। लेकिन प्रगतिशील आन्दोलन की बहिया मे जो कूड़ा-कर्कट ऊपर आ जाता है और समझता

है कि वही आन्दोलन का संचालक है, उसे मानना मेरे लिए कठिन है, क्योकि मै उसकी हकीकत जानता हूँ। कही-कही ऐसे लेखक प्रगतिशील आन्दोलन के सचालक बने हुए है, जो अन्तर मे घोर व्यक्तिवादी है और जिन्होने जिन्दगी मे एक भी प्रगतिशील रचना नही लिखी। मै सियासी नारेबाज नही, गम्भीर लेखक हूँ और मेरे मत को जानने के लिए मेरा साहित्य ही पढ़ना होगा।

रहे मन्त्री, तो गत कुछ वर्षों से मैं राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिवेशनो मे कभी सभापति और कभी उप-सभापति के रूप मे हिस्सा लेता रहा हूँ। वही कुछ मन्त्रियो से परिचय हुआ और जब मुझे पता चला कि उनमें से कुछ और मेरा साहित्य पढते रहे है तो कभी कठिनाई मे उनसे अपनी बात कहने मे मुझे सकोच नही हुआ। हमारे राजनेताओ मे बीसियो साहित्य से महज़ कोरे और ठस हैं। कितनी भी परेशानी क्यो न हो, मै कभी किसी ऐसे राजनेता के दर पर नहीं गया। यह बात मेरी समझ मे नही आती कि मुसीबत पडने पर यदि मैं अपने समर्थ प्रशंसको के पास न जाऊँ तो क्या उन कमजर्फ़ साहित्यकारो के पास जाऊँ, जिन्होंने हमेशा मेरी बीमारियों को मेरा नाटक बताया है और मेरा आर्थिक कठिनाइयो को मेरा फ्रॉड। मैं सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि :

गो रहे नान-ए-जवीं[1] के लिए मोहताज मगर
हम दर-ए-मुनइम[2]-ए-कमज़र्फ़[3] के सायिल न बने

ख़ुदी और ख़ुद-पसन्दी

कहा जाता है कि मैं बहुत लडाका और घोर अहम्वादी हूँ। लेखक सभी अहम्वादी होते है और अहं के बिना आदमी आदमी नही, मिट्टी का लौदा होता है। अपने अह से मुझे भी इन्कार नही और न अहं के

---

१. नान-ए-जवीं = रात की रोटी, २. मुनइम = धनी, ३. कमज़र्फ़ = छोटे दिल वाला।

आहत होने पर पलट कर चोट करने से, लेकिन कई दूसरे लेखको की तरह मेरा अहं मुझ पर सवार नही, वरन् मैं हमेशा अपने अहं पर सवार रहता हूँ। मित्र तकलीफ देता है तो मैं उसे काट देता हूँ, लेकिन वह मिलना चाहता है तो मैं बेकार मे तना नही रहता। मेरा अहं अविनयी नही, विनयी है :—

साक़ी से गर नज़र न मिले, हम न जाम लें
और जब मिले तो दौड़ कर दीवानावार लें

सुन्दर से प्यार

'गिरती दीवारें' के नायक चेतन को सुन्दर लडके अच्छे लगते हैं। वह उनकी एक झलक पाने के लिए मीलो का चक्कर लगाता है और मेरे मित्र मुझ पर आरोप लगाते हैं कि भगवान न करे मुझे भी किसी-न-किसी अश मे 'फ़िराक़' वाली बीमारी है।

'फिराक़' में वह बीमारी किस हद तक बढी रही है, यह तो मैं नही जानता, लेकिन इससे मुझे इन्कार नही कि हुस्न-परस्ती मेरे स्वभाव मे भी है। मुझे सुन्दर स्त्रियाँ ही नही, सुन्दर पुरुष, सुन्दर इमारतें, सुन्दर चित्र, प्रकृति के सुन्दर दृश्य अपनी ओर खींचते हैं। 'सुन्दर' का हर रूप—यहाँ तक कि भयावह सुन्दर और वीभत्स सुन्दर भी—मुझे आकर्षित करता है। अब इसका मैं क्या कर सकता हूँ कि मेरे शत्रु मेरी इस कवि-सुलभ प्रकृति को भी मुझे पीटने के लिए डण्डे के तौर पर इस्तेमाल करते हैं।

इलाहाबाद में पिछले दिनों मेरे एक वतनी युवा कथाकार आ गये और मेरी तरह उन्होंने भी इलाहाबाद मे खूँटा गाड़ दिया। यद्यपि वे महीनो मेरे यहाँ रहे और उन्हे जमाने में मैंने भरसक मदद भी दी, पर जैसा कि प्रायः होता है, जमते ही सबसे पहले वे मेरा खूँटा उखाड़ने के पीछे पड गये।

उन दिनो इलाहाबाद में एक दूसरे कथाकार मेरे इस वतनी से कुछ बेहतर कहानियाँ लिखते थे, वे कहानी लिख कर मुझे जरूर सुनाते

थे और चूंकि मैं उनकी कला का कायल था, मैं दूसरे-चौथे उनके यहाँ जाता था। दुर्भाग्य से उनकी सूरत मे कुछ नमक भी था।

तब मेरे उस जालन्धरी मित्र ने (कि जालन्धर मे यह प्रसिद्ध कहावत है :

शहर जलन्धर गुजाँ दी बस्ती
मुण्डे मेहँगे ते कजरी सस्ती)

यह एलान कर दिया कि मैं उनके प्रतिद्वन्द्वी पर मरने लगा हूँ। उन्होंने शहर मे उडा दिया कि शाम को अमुक के घर जाओ तो सूने बराण्डे मे खुरीं चारपाई पर, चदरा ताने जो व्यक्ति प्रतीक्षारत लेटा होगा, उसकी चादर हटायेंगे तो नीचे से अश्क निकलेगा।

इलाहाबाद छोटा शहर है और उसके बौद्धिको के पास आज स्कैण्डल-चर्चा के अलावा दूसरा कोई मशगला नहीं रहा। सो दिनो-हफ्तो मेरे उस वतनी का रिमार्क कॉफ़ी हाउस, गोष्ठियो और साहित्य-कारो की बैठको में गूँजता रहा। यारो ने खूब मजा लिया और खूब फब्तियाँ कसीं।

इस किस्से का दिलचस्प पहलू यह है कि इस स्कैण्डल की सूचना मुझे पहले उन्हीं नमकीन युवा कथाकार से मिली और इस प्रवाद को उन्होंने सच भी समझ लिया।....दो-चार बार उन्होंने कुछ आर्थिक तंगी का जिक्र किया और कोई काम चाहा। मैंने नीलाभ से कहा। उसने इस शर्त पर काम दे दिया कि काम खत्म होने पर रुपये दिये जायँ। लेकिन वे तीन-चार बार पत्नी को लेकर आये और उस या इस बहाने छै-सात सौ ले गये। पैसा उनकी जेब मे चला गया तो काम उन्होंने लटका दिया, फिर अन्ततः इनकार कर दिया। मैंने उन्हे डाट दिया और उनके घर न जाने की कसम खा ली। तब उन्होंने शहर में शोर मचा दिया और मुझे ब्लेक मेल करने की कोशिश की और मेरे वे वतनी उनके साथ हो गये। बदनामी उनके प्रतिद्वन्द्वी की हो या मेरी, उनकी दोनों तरह जीत थी। अब अपने उन युवा कथाकार मित्र

को मै कैसे समझाता कि मैं उनकी कला के सौदर्य का प्रशंसक था, उनके चेहरे की नमकीनी का नही ।

सादालौही चुग़दियत का पर्याय

चूंकि मैंने उनकी कहानियो का बहुत प्रचार किया था (इसी कारण वास्तव मे मेरे वे वतनी नाराज़ भी हो गये थे) और हफ्ते मे दो-चार बार मैं उनके यहाँ जाता था, इसीलिए जब उन्होने मेरे विरुद्ध खासा ओछा और झूठा प्रचार किया तो कुछ मित्रो ने मुझसे कहा, "अश्क जी आप को आदमियो की कोई पहचान नही । आप बार-बार ऐसे ही धोखा खाते है । इस मामले मे आप अपने उपन्यास-नायक चेतन से भिन्न नही है ।" मित्र कहना चाहते थे कि मैं खासा चुग़द हूँ ।

एक शाम मैं 'नीलाभ प्रकाशन' गया । वहाँ ज्ञान रजन नीलाभ से मिलने आये हुए थे, वह कही गया हुआ था और ज्ञान उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे । उन दिनो शहर मे वही स्कैण्डल चल रहा था । मैंने ज्ञान से कहा कि यार, एक बात मेरी समझ मे नहीं आती, एक तरफ तो लोग कहते है कि मैं खासा चण्ट आदमी हूँ, दूसरी तरफ वे मुझे चुगद भी समझते है (यहाँ मैंने चुगद का पर्याय वही शब्द प्रयोग किया था, जो इलाहाबाद मे प्रचलित है ।)

ज्ञान ने मेरी ओर दबी हुई तिरछी नजर से देखा और कहा—"अश्क जी, आप मे थोडी से नाइविटी (Naivety) तो है ।"

मेरी पत्नी प्रायः मुझसे यही कहा करती थी । बेटा भी कभी-कभी यही कहता था कि मै हर किसी को लिफ्ट दे देता हूँ, फिर दुख पाता हूँ । मैंने कभी उनकी बातो पर ध्यान नही दिया, क्योंकि पत्नियो की नज़र मे सारे पति बेवकूफ़ होते है और पुत्रों की नज़र में पिता । लेकिन ज्ञान ने वही बात कही तो मै चुप रह गया ।

मैं जब कभी अकेला सिविल लाइन्ज जाता हूँ, प्राय: पैदल ही वापस आता हूँ । मै ज्ञान की बात पर ग़ौर करता हुआ वापस आया और इस नतीजे पर पहुँचा कि हाँ, मेरे स्वभाव में जरूर कुछ

नाइविटी है।—चेतन ही की तरह मै फौरन दूसरे मे विश्वास कर लेता हूँ। नये कथाकार या कवि से मिलने पर मै बहुत उत्साहित हो उठता हूँ और उसमे वे सब गुण देख लेता हूँ, जो शायद उसमे नही होते, लेकिन मै उन्हे देखता हूँ या देखना चाहता हूँ। अपने जोश मे मै उसके साथ हो लेता हूँ। यथाशक्ति उसकी मुश्किले आसान कर देता हूँ। उसका झण्डा उठाये घुमता हूँ, लेकिन तभी वह मुझ से कुछ ऐसी बात चाहता है, जो मेरे सिद्धान्त के विरुद्ध होती है। मै इनकार कर देता हूँ और वह नाराज़ हो जाता है अथवा अपने अपने हित-साधन मे मेरे किसी विरोधी को पटाने के लिए, वह मेरी पीठ मे छुरा भोक देता है अथवा जब वह मेरी कल्पना से एकदम उलटा सिद्ध होता है, तब मै, चेतन ही की तरह, अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठता हूँ और प्रतिक्रिया मे दूसरे छोर पर जा पहुँचता हूँ।

यह तमाम-तर खुशदियत मुझ मे हैं। पर कभी कभी मै सोचता हूँ कि यदि यह नाइविटी मुझ मे न होती, यह भाव-प्रवणता न होती तो क्या मै लेखक होता या क्या अच्छा लेखक होता ? मेरे स्वभाव मे यह दोष न होता तो शायद मे प्रसिद्ध पत्रकार होता या जैसा कि पहले कह चुका हूँ, फौजदारी का सफल वकील, आकाशवाणी का उच्चाधिकारी अथवा फिल्म प्रोड्यूसर होता, लेखक कदापि न होता। यही नाइविटी मुझे इन्सान बनाये है, वरना मै तो छोटा-मोटा शैतान होता। मैंने लिखा भी है :

> यह सादालौही बचा ले गयी तुझे ऐ 'अश्क'
> ख़ुदा गवाह, तू शैतान हो गया होता।

चेहरे : अनेक—१
चेहरे अनेक—२
चेहरे . अनेक—३
चेहरे अनेक—४ (प्रकाश्य)

तेलगू के प्रसिद्ध कथाकार रमेश चौधरी (आरिगपूड़ी) ने 'चेहरे : अनेक' पढ़ कर लिखा।

"मै भयकर पढ़ाकू माना जाता हूँ। राम जाने कितनी जीवनियाँ और आत्म चरित मैं चाट गया हूँ। लेकिन अभी तक एक भी ऐसी पुस्तक नहीं आयी, जो 'चेहरे : अनेक' जैसी अद्वितीय हो !"

आरिगपूडी के इस कथन मे रंच मात्र भी अतिशयोक्ति नही—सर्जक की कुर्सी पर बैठने और स्रष्टा कहाने वाले लेखक मानव के मनोविज्ञान को परत-दर-परत उघाडती, ऐसी निडर गहरी, बारीक और बेबाक चरित-माला हिन्दी तो क्या, किसी अन्य देशी या विदेशी भाषा मे भी उपलब्ध नहीं। कारण कि दूसरो के दोष गिनाना और उन पर व्यंग्य-वाण चलाना कठिन नही, कठिव है निहायत दयानदारी से अपने दोष देखना और परम निरपेक्ष भाव से उन्हे अपने घाव और व्रण दिखाते हुए अपने पाठको के सामने रखना। उपर्युक्त चरित-माला मे (जिसके प्रस्तावित दस खंडो मे चार अश्क ने पूरे किये हैं) उन्होने यही किया है।

अश्क ने 'चेहरे' : अनेक' मे दूसरों के मुखौटे ही नही उतारे, अपने चेहरे को भी निर्ममता से बेनकाब किया है। तभी तो चेहरे : अनेक-३ की समीक्षा साहित्य अकादमी की हिन्दी पत्रिका मे करते हुए अर्चना वर्मा ने लिखा कि अश्क दूसरों के प्रति ही नही अपने प्रति भी क्रूर हैं। (जो बहुत अच्छी बात नही।) लेकिन अश्क चाहते हैं कि उनकी चरित-माला के द्वारा उनके पाठक जिन्दगी को नगी आँखो से देखे और दूसरो को ही नही अपने आपको भी समझें। हिन्दी साहित्य मे 'चेहरे : अनेक' की यही भूमिका है—जिन्दगी की एक सच्ची, खरी, बे-बाक, दस्तावेज !

कहानी के इर्द गिर्द
गिरती दीवारे : दृष्टि-प्रतिदृष्टि
आमने सामने
विवादो के घेरे में

अश्क के साथ किये गये साक्षात्कारो के उपर्युक्त चारो
जीवन्त, सच्चे, रचनात्मक, ठोस, आकर्षक, विवादग्रस्त और महत्
समालापो का नमूना पेश करते है ।

कहानी के इर्द गिर्द—मे स्व० सुदर्शन चोपडा, दूधनाथ सिंह,
रा० यात्री, डॉ० रणवीर राग्रा और स० नाम के अगम्भीर ले
द्वारा किये गये चुनौती भरे-प्रश्न और अश्क के उत्तर हैं ।

गिरती दीवारें : दृष्टि प्रतिदृष्टि—में ड्यूक विश्वविद्यालय (डर
अमरीका के अध्यापक आर० शौनक ने अश्क के जीवन और उ
उपन्यास त्रयी के बारे मे खासे चुनौती भरे १०० प्रश्न पूछे हैं
अश्क ने बिना कन्नी काटे उनके उत्तर दिये हैं ।

आमने सामने—मे सुधीन्द्र रस्तोगी, शौनक, डॉ०राग्रा, भैरव प्र
गुप्त और लक्ष्मी कान्त वर्मा ने क्रमश: शहर में घूमता आईना, भा
समाज-संस्थाओ-शासन और स्वतन्त्र लेखन, काव्य सम्बन्धी अह
ग्रन्थियो, अश्क की कहानियो तथा सर्जनात्मक सौंदर्य और तत्सम्ब
बिषयो पर प्रश्न किये हैं ।

विवादों के घेरे में—डॉ०अतिया निशात ने प्रेमचन्द की साम्प्रदा
कता और प्रासंगिकता, ममता कालिया ने अमरकान्त की कहानि
रवीन्द्र कालिया ने अश्क के जीवन और लेखन सम्बन्धी विवादों
समकालीन साहित्य में चर्चित पुस्तकों के बारे में तीखे प्रश्न किये
यह अन्तिम साक्षात्कार बहुत लम्बा है और अनेक साहित्यिक वि
पर अश्क के विचार प्रस्तुत करता है ।

जैसा कि एक आलोचक मे लिखा है—ये साक्षात्कार कहा
उपन्यास से कही ज्यादा दिलचस्प और संग्रहणीय है ।